THE BOOK WAS DRENCHED

UNIVERSAL LIBRARY
OU_182859
UNIVERSAL LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H. 700/G19B Accession No. H. 3756

Author गुप्त, जगदीश

Title भारतीय कला के पदचिह्न १९६१

This book should be returned on or before the date last marked below.

भारतीय कला के पदचिह्न

भारतीय कला के पदचिह्न

डॉ० जगदीश गुप्त

नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई सड़क, दिल्ली

प्रथम संस्करण
अक्टूबर, १९६१

आवरण
डॉ० जगदीश गुप्त

मूल्य : ५ रुपये

मुद्रक
शान्तिलाल जैन
श्री जैनेन्द्र प्रेस,
जवाहरनगर, बँगलो रोड, दिल्ली-६

पाठक जी

के

सहज कला-प्रेम

एवं

अजस्र वत्सल-भाव

को

सादर

युगों की चट्टानों पर सृष्टि,
डाल पदचिह्न चली गंभीर।

—श्रद्धा सर्ग, कामायनी।

मनोभूमि

आधुनिक सामाजिक सन्दर्भ में मानव-विकास की कितनी भी उन्नत स्थिति की कल्पना क्यों न की जाय, मानव-व्यक्तित्व की ऐसी कोई स्थिति कदाचित् ही दिखायी दे जिसमें 'आत्मसंस्कार' सर्वथा अनावश्यक सिद्ध हो अथवा उसकी कुछ भी अपेक्षा न रह जाय, अतएव 'आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि' के रूप में कला की प्रतिष्ठा करने वाले देश में कला का भविष्य कभी अंधकारमय होगा, ऐसी आशंका मुझे नहीं होती है। कला की भाषा मेरी दृष्टि में सबसे अधिक मानवीय और सार्वभौम भाषा है, क्योंकि इसका सम्बन्ध सीधे मनोभावों से होता है जिनको समझने की प्रातिभ क्षमता प्रकृति की ओर से ही सब मनुष्यों को प्राप्त हुई रहती है। यह दूसरी बात है कि किसी में वह अस्फुट हो और किसी में स्फुट। अस्फुट क्षमता को सजग संस्कार के द्वारा ही स्फुट बनाया जा सकता है, अतएव कला दोहरा कार्य करती है; एक ओर वह मनोभावों का संस्पर्श करती हुई सूक्ष्म सौन्दर्य-बोध को परितृप्ति प्रदान करती है; दूसरी ओर वह सोये हुए संस्कारों को जगाकर, जल पर से काई की तरह चेतन मन की जड़ता को हटाती हुई, अस्फुट प्रातिभ क्षमता को स्फुट बनाती चलती है। बौद्धिक उत्कर्ष को प्रतिबिम्बित करने वाले श्रेष्ठ से श्रेष्ठ विचार कला का आधार पाकर ही मनोग्राह्य हो पाते हैं, इसमें संदेह नहीं।

भारतीय कला-चिंतन की यह विशेषता रही है कि उसने रूपात्मक तत्त्व से भावात्मक तत्त्व को सदा प्रधानता दी है। भावहीन रूप के प्रति होने वाले बौद्धिक आकर्षण से भावयुक्त रूप-जन्य हार्दिक आकर्षण को श्रेष्ठतर माना है। फलतः प्रकृतिगत स्वाभाविकता और भावगत मानवीयता को विचक्षणता एवं कौशल की तुलना में अधिक गौरव प्रदान किया गया। युग के अन्तर और सार्वभौम दृष्टिकोण के प्रति सजग होते हुए भी मैं यह मानता हूँ कि आधुनिक कला में भारतीय परम्परा के सशक्त तत्त्वों का समावेश हो सकता है और होना चाहिए। वास्तविक कलाकार एक ही चीज़ से विद्रोह करता है, और वह है,

निर्जीवता। सजीवता चाहे जिस रूप में भी हो, कलाकार को सदा आकृष्ट करती है और परम्परा भी वास्तव में सजीवता की ही होती है; निर्जीवता की कोई परम्परा नहीं होती।

भारत के इतिहास में विभिन्न युगों की कलात्मक उपलब्धियों को जब मैं 'पदचिह्न' के रूप में देखता हूँ तो मुझे सहस्रों वर्षों तक विस्तृत कला-परम्परा के पीछे एक सजीव गतिमान व्यक्तित्व का बोध होता है और लगता है जैसे सारे चिह्न मेरी ही मनोभूमि पर अंकित हुए हों। पदचिह्नों की दृढ़ता, आकार और स्पष्टता से जैसे चलने वाले के स्वभाव और स्वरूप का बहुत-कुछ अनुमान हो जाता है उसी प्रकार भारतीय कला के प्रौढ़ तथा महान् व्यक्तित्व का पर्याप्त आभास मुझे विगत युगों की भारतीय कलाकृतियाँ कराती रही हैं जिनकी संख्या अपरिमित है और उत्कृष्टता अतुलनीय। जहाँ खुदाई होती है, जिधर खोज की जाती है, अद्भुत सौन्दर्य से युक्त वस्तुएँ उपलब्ध होती चली जाती हैं। कई वर्षों से मृण्मूर्तियों के संकलन और अनुशीलन में व्यस्त रहा हूँ—उस क्षेत्र में स्वयं मुझे ऐसी ही प्रतीति हुई है और इधर विंध्य और सतपुड़ा की दुर्गम पर्वत-श्रेणियों में स्थित अनेक गुफाओं एवं शिलाश्रयों में अंकित अगणित प्रागैतिहासिक चित्रों को प्रत्यक्षतः देखने का अवसर मिला—उसमें भी मैंने यही पाया कि अभी उपलब्धियों की संभावना अनन्त है। भारतवर्ष में अत्यन्त प्रारंभिक युग से ही कला-चेतना अदम्य शक्ति के साथ सक्रिय एवं गतिशील दिखायी देती है। मेरा कहना यह नहीं है कि सांस्कृतिक दृष्टि से समृद्ध ग्रीस, रोम, इजिप्ट और चीन आदि संसार के अन्य देशों में ऐसा घटित नहीं हुआ; मेरा अभिप्राय तो केवल यही है कि भारतवर्ष भी उन देशों की तरह कला और संस्कृति के क्षेत्र में प्रथम पंक्ति में स्थान पाने का अधिकारी है। इस दिशा में आनन्द कुमार स्वामी, स्टेला क्रेमरिश तथा मुल्कराज आनन्द जैसे कलाविदों के कार्य से मैंने सदा प्रेरणा ग्रहण की है। विदेशों से जो कला के इतिहास और समीक्षा-ग्रंथ प्रकाशित होते रहते हैं उनमें बहुधा भारतीय कला के साथ न्याय नहीं किया जाता, जिसे देख कर खेद होता है। संभवतः भारत के किसी भी स्वाभिमानी कलाकार या कला-प्रेमी को इस स्थिति से संतोष नहीं होगा।

विज्ञान-प्रदत्त साधनों द्वारा औद्योगिक प्रगति के महा अभियान में संलग्न इस वर्तमान युग में कला और कलाकार की स्थिति बहुत विषम हो गयी है। अनुकृति और प्रतिकृति के सम्पूर्ण क्षेत्र पर यन्त्रों का अधिकार हो गया है इस कारण मौलिक उद्भावना का महत्त्व कला-जगत् में पहले की अपेक्षा कहीं अधिक

बढ़ गया है। युगों से प्रतिष्ठित शिल्प-कौशल की पूर्णता भी उसके आगे अपनी मूल्यवत्ता न्यूनाधिक खो चुकी है। अब शिल्प-कौशल की सार्थकता इतनी ही रह गयी है कि वह मौलिक उद्‌भावना को कम से कम बाधित करते हुए, उसे पर्याप्त शक्ति के साथ धारण कर सके। इस प्रकार की कलाकृतियाँ उतनी बड़ी संख्या में कभी भी निर्मित नहीं हो सकतीं, जितनी कौशल-प्रदर्शन या परम्परा का अनुसरण करने वाली कृतियाँ। फलतः अपवाद-रूप में ही ऐसे कलाकार दिखायी देते हैं जो केवल अपनी कला द्वारा अर्जित अर्थ से सम्मानपूर्ण जीवन बिता रहे हों। एक तो मौलिक कृतियों का मूल्य उस अनुपात में नहीं बढ़ा जिस अनुपात में मौलिकता का आग्रह; दूसरी ओर जनता में भी, फैशन के स्तर से ऊपर उठकर, मौलिक-अमौलिक के बीच भेद करते हुए वास्तविक महत्त्व की कृति को उचित मूल्य-बोध के द्वारा प्रतिष्ठित एवं प्रशंसित करने की प्रवृत्ति अपेक्षित मात्रा में विकसित नहीं हुई है। कला मनोरंजन ही नहीं, गंभीर स्तर पर एक आत्म-संस्कार की दृष्टि से भी महत्त्व रखती है, इसकी चेतना बहुत कम लोगों में पायी जाती है। कला की दृष्टि से मैं उसी समाज को सभ्य और सुसंस्कृत कहूँगा जिसमें मौलिक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार को केवल अपनी कलाकृतियों के आधार पर ही सम्मानपूर्ण ढंग से जीवन-यापन की यथेष्ट सुविधा मिल सके और सुविधा के बदले उसे साधन बनाकर न छोड़ दिया जाय। भारतवर्ष में शताब्दियों से व्याप्त पराधीनताजन्य संस्कारहीनता तथा अशिक्षा के कारण निकट-भविष्य में ऐसी आदर्श स्थिति आती दिखायी नहीं देती। अपेक्षित प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिए भारतीय कलाकार को अभी कितना संघर्ष और करना होगा यह कहना कठिन है। हर्बर्ट रीड ने योरोपीय समाज में एक सीमा तक पहुँची हुई औद्योगिक संस्कृति की प्रकृतिगत आन्तरिक विषमताओं का विश्लेषण करते हुए कला के भावी संघर्ष एवं स्वरूप का अपने 'Future of Art in an Industrial Civilization' शीर्षक लेख में बहुत दूर तक सही अनुमान लगाया है। पर वे भावी युग की विकासशील यान्त्रिकता से इतना संत्रस्त हो उठे कि उन्होंने प्रत्येक व्यक्ति के कलाकार बन जाने की अव्यावहारिक सलाह गंभीरतापूर्वक दे डाली—

"I am recommending that everyone should be an artisit. I am not recommending it in a spirit of dilettantism, but as the only preventive of a vast neurosis which will overcome a wholly-mechanized and rationalized civilization."

—The Grass Roots of Art, p. 72

मानव-समाज का प्रत्येक प्राणी न कभी कलाकार हुआ है और न आगे कभी

हो सकेगा चाहे जितनी दूरदर्शिता एवं सद्भाव के साथ उपर्युक्त मन्तव्य व्यक्त किया गया हो। यान्त्रिकता का आघात कितना ही क्यों न बढ़ जाय, कलाकारों की संख्या उसके प्रभाव से बढ़ेगी नहीं, घट भले ही सकती है, जिसके लक्षण कुछ-कुछ सामने आने भी लगे हैं।

इस विषम स्थिति में कलाकार का अपना कोई दायित्व न हो, अथवा मैं उसका अनुभव न करता होऊँ, ऐसी बात नही है। वास्तविकता तो यह है कि मैं उसके दायित्व को समाज के दायित्व से भी अधिक महत्त्व देता हूँ। परन्तु यह अवश्य है कि कलाकार के दायित्व को आँकने का ढंग दूसरा होता है। कला-सृजन में जहाँ तक सचेतन का प्रवेश है वहाँ तक कलाकार से अपने युग के प्रति पूरे दायित्व-निर्वाह की अपेक्षा की जा सकती है; परन्तु कला के सृजन में अव-चेतन का भी पर्याप्त योग रहता है, उसकी गति को अछूता रहने देना ही श्रेयस्कर है। उसका नियमन एक संवेदनशील जागरूक कलाकार का सौन्दर्य-बोध, जितना कर पाता है, स्वयं कर लेता है और जितना उसके द्वारा नहीं हो पाता, उसका अन्य किसी साधन से किया जाना मुझे सम्भव नहीं प्रतीत होता; तब तक, जब तक मन के निर्माण की ही कोई यान्त्रिक प्रक्रिया विज्ञान सहज सुलभ नहीं कर देता। मन का निर्माण अभी तक तो अध्ययन-अनुशीलन, चिन्तन-मनन, अनुभव-अभ्यास, संस्कार और व्यक्तियों के सजीव सम्पर्क आदि से ही होता दिखाई देता है और इस दृष्टि से कलाकार कोई अपवाद बन कर सामने नहीं आता। जैसे सबका मन होता है वैसे उसका भी; यह दूसरी बात है कि अपने को कला के माध्यम से अभिव्यक्त करने की उसमें अतिरिक्त क्षमता होती है। जितनी अतिरिक्त क्षमता उसमें होती है उतना ही उसका दायित्व भी बढ़ जाता है। उसके दायित्व को अधिक महत्त्व देने की बात इसीलिए समस्या को उठाते ही कह दी गयी है।

यहाँ तक की चर्चा मेरी उस मनोभूमि का परिचय देगी, जिस पर 'भारतीय कला के पदचिह्न' उभरे हैं। इसके आगे अब कुछ इस कृति के विषय में भी कहना चाहता हूँ।

जो सामग्री इस पुस्तक में समाविष्ट की गयी है उसमें से अधिकांश गत पन्द्रह वर्षों के भीतर समय-समय पर लिखी गयी है तथा लेख और वार्ता के रूप में बहुधा प्रकाशित एवं प्रसारित भी होती रही है। कुछ ऐसी भी है जो अब तक अप्रकाशित थी और इसमें पहली बार मुद्रित हुई है। पन्द्रह वर्ष का समय किसी भी व्यक्ति के विकास की दृष्टि से इतना लम्बा होता है कि उसके

एक सिरे पर लिखी गयी चीजों से दूसरे सिरे की चीजों की तुलना करके परिपक्वता और स्तर का अन्तर कोई भी समझदार व्यक्ति सरलता से लक्षित कर सकता है। मैं स्वयं इस अन्तर के प्रति पर्याप्त सजग हूँ।

सम्पूर्ण सामग्री को मैंने चार खंडों में विभाजित किया है—

१. चित्र, २. मूर्ति, ३. शिल्प, ४. संस्कृति।

भारतीय वास्तुकला की समृद्धि का अपना स्वतन्त्र क्षत्र है, पर मुझ उसमें उतनी रुचि नहीं है जितनी चित्रकला और स्थापत्य में; अन्यथा इसमें चित्र और मूर्ति के बाद एक खंड 'वास्तु' का भी जुड़ जाता। प्रारम्भिक सामग्री, जो कुछ भी है, पहले और तीसरे खंड में ही है; उनमें के अधिकांश तथा शे दोनों खंडों के सब लेख प्रायः इधर के ही कुछ वर्षों के लिखे हुए हैं।

प्रथम खंड में प्रागैतिहासिक चित्रकला-विषयक पहला लेख इस विषय पर आगे आने वाली मेरी पुस्तक की हल्की पूर्वछाया मात्र है। 'मूलाधार' और 'लोकोन्मुखी धारा' वाले लेख आधुनिक भारतीय चित्रकला के विषय में मेरी निजी धारणा को व्यक्त करते हैं। 'ललित कला-अकादमी' की स्थापना भारतीय कला के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण घटना के रूप में हुई, इसलिए उसकी प्रारंभिक तीन प्रदर्शनियों से सम्बद्ध सामयिक चर्चा को भी सम्मिलित कर लिया गया है। अकादमी से भारतीय कला को व्यापक रूप में पुनरुज्जीवन मिलने की जितनी आशा की गयी थी उतनी उसकी गतिविधि से पूरी होती प्रतीत नहीं हो रही है। देश की विशालता तथा कला-चेतना की विविधता को देखते हुए उसकी योजनाएँ बहुत छोटी और अपर्याप्त लगती हैं। बाद की अन्य प्रदर्शनियों की चर्चा इसीलिए छोड़ दी गयी।

द्वितीय खंड में समाविष्ट 'मन्दिरों में प्रणयलीन मिथुन-मूर्तियाँ' शीर्षक लेख बहुत से विज्ञ लोगों द्वारा आशंसित हुआ। बँगलौर के श्री वी० वेंकटेश ने कन्नड़ भाषा में उसका अनुवाद करने की अनुमति माँगी। गुजरात के वयोवृद्ध कला-गुरु श्री रविशंकर रावल ने उसे गुजराती में अनूदित करके मुझे गौरवान्वित किया। उन्होंने इस सम्बन्ध में, हिन्दी में भेजे हुए अपने पत्र में लिखा—

"मैंने 'ज्ञानोदय' के 'प्रणय-अंक' (१९५९) में आपका लेख पढ़ा। कला के विषय में आजकल श्लील-अश्लील का संविवाद खूब चल रहा है। आपने पूर्ण ताटस्थ्य से इस विषय में एक प्रकाश व मार्ग-दर्शन दिया है और आपके विचार-दर्शन यथावत् गुजरात के कला-रसिकों को सादर कहने के लिए मैं वह

लेख अनुवादित कर रखा है।"

मैंने उनके शब्दों को आशीर्वाद समझ कर शिरोधार्य किया तथा अपने श्रम को कृतार्थ माना। पत्र लिखते समय वे भूल चुके थे कि तेरह वर्ष पूर्व 'गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण-काव्य' के 'तुलनात्मक अध्ययन' से सम्बन्धित अपनी शोध-यात्रा में जब मैं अहमदाबाद गया था तो मुझे उनके 'चित्रकूट' का प्रसाद पाने का सौभाग्य भी मिला था। जब उत्तर में मैं ने उन्हें उसका स्मरण दिलाया तो वे कितने भाव-विभोर हो उठे, इसका प्रमाण उनका दूसरा पत्र है। उनकी इस प्रसन्नता ने मेरी कला-विषयक संलग्नता को दुगनी प्रेरणा से भर दिया; यह कहने में मुझे कोई संकोच नहीं है।

तृतीय खंड के अन्तर्गत वैदिक साहित्य में 'शिल्प' के स्वरूप की बात उठाना एक प्रकार से मेरी अनधिकार चेष्टा ही है; क्योंकि उस साहित्य से मेरा परिचय बहुत थोड़ा है। फिर भी अपनी जिज्ञासा को मिटाने के लिए मैंने उसमें से कुछ तथ्यों को संकलित करने की चेष्टा की है।

चतुर्थ खंड का 'कला के क्षेत्र में एशिया की वैचारिक एकता' शीर्षक पहला और 'बदलती हुई मान्यताओं और कला' के सम्बन्ध को व्यक्त करने वाला अन्तिम, दोनों लेख राष्ट्रीय महत्त्व के वार्ता-क्रम में आकाशवाणी के प्रयाग और जयपुर-केन्द्रों से प्रसारित हो चुके हैं। 'मूर्तिपूजा और भारतीय संस्कृति' शीर्षक लेख भी यद्यपि रेडियो के निमित्त ही लिखा गया था, परन्तु उसके लेखन में मेरी अपनी प्रेरणा ही अधिक सक्रिय थी। 'मध्यदेश का अज्ञात सांस्कृतिक केन्द्र' विषयक लेख अवश्य ऐसा है जो कला से कम और पुरातत्त्व से अधिक सम्बद्ध है; लेकिन अपनी जन्मभूमि के गुणगान से पूर्ण होने के कारण मैं मोहवश उसे अलग नहीं कर सका। उसके ब्लॉक 'भारतीय हिन्दी-परिषद्' के सौजन्य से प्राप्त हुए हैं जिसके लिए आभार-प्रदर्शन करना मेरा कर्त्तव्य है। कुछ अन्य लेखों के साथ भी चित्र दे दिये गये हैं। विलम्ब से प्रतिलिपि प्राप्त होने के कारण 'राजपूत-शली' शीर्षक वार्ता को प्रथम खंड में न रख कर, विवशतापूर्वक अन्त में सहायक पुस्तकों की सूची के साथ रखना पड़ा है। हर लेख के विषय में कुछ न कुछ कहना आवश्यक नहीं है, इसलिए वस्तु-परिचय की बात यहीं समाप्त करता हूँ।

संशोधन की पूर्ण चेष्टा करने के बाद भी प्रूफ की त्रुटियाँ कुछ न कुछ रह ही गयी हैं, जैसे पृ० ६४ पर जयदेव के जन्म-ग्राम का नाम 'किन्दुबिल्व' के स्थान पर 'तिन्दुविलय' छप गया है। गीतगोविंदकार ने तो स्वयं ही 'किन्दु-

विल्वसमुद्रसंभव रोहिणीरमणेन' लिखकर उसकी घोषणा कर दी है। प्रूफ़ देखने में मुझे श्री श्रीराम वर्मा से यथेष्ट सहायता मिली है।

यह पुस्तक इतनी शीघ्रता से कभी प्रकाशित न हो पाती यदि प्रकाशक-व्यवस्थापक के रूप में श्री मलिक तथा श्री माधवजी से मुझे पूरा सहयोग प्राप्त न होता। उनके सद्भाव ने मेरे हृदय में स्वतन्त्र स्थान बना लिया है।

मेरी कला-विषयक इस प्रथम कृति से यदि पढ़ने वाले के मन में भारतीय कला के प्रति किंचित् भी औत्सुक्य एवं आदरभाव उत्पन्न हो सका तो मैं अपने को कृतार्थ समझूंगा।

२३-८-६१

मोती-महल —जगदीश गुप्त

दारागंज,

प्रयाग ।

क्रम

● **कला : चित्र**

१. प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला ३
२. चित्र के तत्त्व और चित्रकला के विविध रूप ७
३. आधुनिक चित्रकला का मूलाधार १७
४. आधुनिक भारतीय चित्रकला का विकास-क्रम २५
५. आधुनिक भारतीय चित्रकला की लोकोन्मुखी धारा २९
६. आधुनिक भारतीय चित्रकला का राष्ट्रीय प्रदर्शन ३६
७. तृतीय राष्ट्रीय कला-प्रदर्शनी ४०
८. महादेवी की प्रतिभा में कवित्व और चित्रकला का समन्वय ४५

● **कला : मूर्ति**

९. मंदिरों में प्रणय-लीन मिथुन-मूर्तियाँ ५७
१०. आधुनिक भारतीय मूर्तिकला ६६

● **कला : शिल्प**

११. वैदिक साहित्य में 'शिल्प' का स्वरूप ७९
१२. भारतीय कला के प्रमुख प्रतीक ८२
१३. भारतीय शिल्प-कला की त्रिवेणी ९०
१४. नयी रेखाएँ : नये स्वर ९८

● **कला : संस्कृति**

१५. कला के क्षेत्र में एशिया की वैचारिक एकरूपता १०७
१६. मूर्तिपूजा और भारतीय संस्कृति ११२
१७. प्राचीन साहित्य और कला में गजलक्ष्मी का चित्रण ११५
१८. मध्यदेश का अज्ञात सांस्कृतिक केन्द्र : अंगईखेड़ा ११८
१९. बदलती हुई मान्यताएँ और कला १२६

● परिशिष्ट

१. राजपूत-शैली १३२
२. कला-विषयक कुछ सहायक पुस्तकें १३८

कला : चित्र

प्रागैतिहासिक भारतीय चित्रकला

प्रागैतिहासिक चित्रों की खोज मनुष्य के सांस्कृतिक इतिहास में अभूतपूर्व महत्त्व रखती है। सन् १८८० में स्पेन में पुरापाषाण युग (Paleolithic age) के गुफाचित्र जब पहली बार प्रकाश में आए तो विद्वानों को उनकी प्रामाणिकता पर गहरा सन्देह हुआ। बहुत से पुरातत्त्व वेत्ताओं ने उन्हें जाली घोषित कर दिया, परन्तु जब उसी प्रकार के गुफाचित्र सन् १८९५-९७ के आस-पास फ्रांस में मिले तो धीरे-धीरे विचारकों को अपना मत बदलना पड़ा और स्पेन के गुफाचित्र भी प्रामाणिक मान लिए गए। तब से प्रागैतिहासिक चित्रों के महत्त्व का गम्भीरता से अनुशीलन आरम्भ हो गया। इस दिशा में और अन्वेषण हुए। स्पेन में अल्टामाइरा (Altamira) और फ्रांस में लस्का (Lascaux) नामक स्थानों के अतिरिक्त अफ्रीका के निबिड़ जंगलों में बुशमैन विनिर्मित जो चित्र उपलब्ध हुए उनसे इस चित्रकला का अध्ययन और भी समृद्ध हुआ। डॉ० कुह्न की धारणा है कि इन चित्रों के निर्माता स्पेन के प्रागैतिहासिक चित्रकारों से सम्बद्ध रहे होंगे। अफ्रीका के आदि निवासियों में उन्नीसवीं शताब्दी तक गुफाचित्रों के निर्माण की परिपाटी प्रचलित मिलती है। दक्षिणी रोढेशिया, पेरू, अलास्का आदि अन्यान्य स्थानों में भी अनेक आदिम चित्रांकित गुफाएँ प्रकाश में आईं। इन चित्रों का काल-निर्णय अपने में एक स्वतन्त्र समस्या है। प्रायः दस हजार से लेकर पचास हजार वर्ष ईसवी पूर्व तक इनकी प्राचीनता का अनुमान किया गया है। कुछ का तो यहाँ तक कहना है कि प्रागैतिहासिक चित्रों का उद्भव-काल मनुष्य-जाति के उद्भव-काल से भिन्न नहीं होगा, अर्थात इन चित्रों की प्राचीनता वहाँ तक जाती है जहाँ तक मनुष्य की सम्भावना का इतिहास। अग्नि और वस्त्र के प्रयोग से पूर्व नग्न-बर्बर मानव में सौन्दर्य बोध की ऐसी स्थिति अपने में एक आश्चर्य-

जनक सत्य है।[1] कला के मूलोद्भव सम्बन्धी सारे सिद्धान्त, जो सभ्य मानव को दृष्टि में रख कर बनाए गए थे, इन चित्रों के संदर्भ में झूठे पड़ गए और उनकी पुनर्परीक्षा की जाने लगी। प्रागैतिहासिक चित्रों से सम्बन्धित दूसरा आश्चर्यजनक सत्य इनकी कलात्मक पूर्णता, अनुभूति की सप्राणता, तीव्र गति-बोध के साथ सहज अकृत्रिम भावाभिव्यक्ति, निरीक्षण की सूक्ष्मता तथा शैलीगत परिपक्वता जिस मात्रा में इनमें मिलती है, उतनी बहुत से आधुनिक चित्रों में भी उपलब्ध नहीं होती। यूरोप के अनेक आधुनिक चित्रकारों ने इनसे सीधी प्रेरणा ग्रहण की है। प्रागैतिहासिक चित्रों के सृजन की मूल प्रेरणा क्या थी, इस विषय में भी पर्याप्त ऊहापोह किया गया है। कुछ विचारक जादू-टोना जैसी किसी आदिम धार्मिक भावना से इन्हें प्रेरित मान कर कोई न कोई उपयोगिता-वादी व्याख्या प्रस्तुत करना चाहते हैं किन्तु कुछ दूसरे विचारक इससे असहमति प्रकट करते हुए इन्हें केवल शुद्ध भावात्मक प्रक्रिया से उत्पन्न मानते हैं। अंशतः दोनों ही दृष्टिकोण सत्य हैं। नितान्त आदिम अवस्था में किसी धार्मिक भावना का अभाव मानना ही उचित प्रतीत होता है किन्तु कालान्तर में मानसिक विकास होने पर चित्रित आकृतियों को किन्हीं शक्तियों का प्रतीक भी समझा जाने लगा होगा, ऐसी धारणा भी अनुचित नहीं है क्योंकि इसके भी थोड़े-बहुत प्रमाण मिले हैं।[2]

अल्टामाइरा या बुशमैन चित्रों जितने प्राचीन तो नहीं किन्तु प्रागैतिहासिक विशेषण से अभिहित किए जा सकने वाले महत्त्वपूर्ण गुफाचित्र भारतवर्ष में भी अनेक स्थानों पर उपलब्ध हुए हैं। एलन हाटन ब्रॉड्रिक (Alan Houghton Brodrick) ने सन् १९४८ में संसार भर के प्रागैतिहासिक चित्रों का विशेष अध्ययन प्रस्तुत करते हुए एक स्थल पर भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों तथा उनकी उपलब्धि के स्थलों का विवरण संक्षिप्त रूप में दिया है।[3] इसके अनुसार अमेरिका और यूरोप के बाद प्रागैतिहासिक कला की दृष्टि से महत्त्व रखने वाले क्षेत्रों में भारत की भी गणना की जा सकती है। मध्यभारत में उल्लेखनीय स्थल—अदमगढ़, रायगढ़, चक्रधरपुर, सिंगनपुर, होशंगाबाद तथा

१. That the aesthetic sense is inherent in most people irrespective of their intellectual standing is shown by a consideration of the art of the primitive peoples.

Herbert Read, The meaning of Art.—page 53.

२. श्री एम० कमिले शुवर (M. Camille Schuwer) ने इस पक्ष पर विशेष आग्रह प्रदर्शित किया है तथा इस सम्बन्ध में कुछ प्रमाण भी दिए हैं।

३. Prehistoric Painting—page 35.

मिर्जापुर बताए गए हैं। लेखक ने सिंगनपुर के पशु-चित्रों का सादृश्य स्पेन तथा आस्ट्रेलिया के आदिम चित्रों से और होशंगाबाद के चित्रों की विषयगत समानता फ्रांस में स्थित पूर्वोक्त लस्का के चित्रों से लक्षित की है। इसके उदाहरण स्वरूप ग्रंथ के अन्त में तीन चित्रों के ब्लाक भी छापे गए हैं। प्रागैतिहासिक भारत से सम्बद्ध, स्टुअर्ट पिगाट (Stuart Piggott) की प्रसिद्ध पुस्तक 'Prehistoric India' में गुफाचित्रों को कोई महत्ता ही नहीं दी गई है। केवल गॉर्डन (D. H. Gordon) महोदय की शोध का उल्लेख करते हुए उसी के आधार पर चित्रों की प्राचीनता पर एक गहरा प्रश्न-चिह्न अंकित कर दिया गया है। पिगाट का अपना मत है कि इन्हें ५०० ई० पू० से अधिक कहना कठिन होगा।[१] भारतीय गुफाचित्रों के विषय में गॉर्डन का अध्ययन सन् १९३५-३६ के लगभग प्रकाश में आया। उसके बाद से अब तक इस विषय पर अन्य अनेक अन्वेषकों ने थोडा-बहुत कार्य किया है।। प्रो० ज़ुनेर (Zuner) तथा पंचानन मित्र ने प्रागैतिहासिक भारत की समस्या को नए सिरे से उठाया। मनोरंजन घोष ने मिर्जापुर के गुफाचित्रों पर विशेष रूप से कार्य किया जो भारतीय पुरातत्त्व विभाग के मेम्वायर में प्रकाशित हो चुका है। आदिम कला के एक विशेषज्ञ लियोन्हार्ड अदम (Leonhard Adam) के मत से भारत के प्रागैतिहासिक काल-निर्णय की समस्या अभी अनिश्चित ही है।[२] कारण यह है कि एक ही स्थान पर विभिन्न कालों के चित्र अंकित मिलते हैं, उनमें से बिना पर्याप्त प्रमाणों के यह सिद्ध करना कठिन है कि कौन सा चित्र कितना प्राचीन है। इधर प्रयाग विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व-विभाग के अध्यक्ष श्री गोवर्धन राय शर्मा ने मिर्जापुर के आस-पास के भूभाग में न केवल कुछ चित्रित गुफाओं को खोज निकाला है वरन् उन्हीं से ऐसे प्रस्तर उपकरणों (Stone tools) को भी प्रभूत मात्रा में उपलब्ध किया है जिससे चित्रों के सहस्राब्दियों तक की प्राचीनता सिद्ध करने के लिए एक सशक्त आधार मिल जाता है। कुछ ऐसे ही आधारों पर लन्दन विश्वविद्यालय के पुरातत्त्वज्ञ अल्चिन दम्पति (Mr. & Mrs. F. R. Allchin) ने दक्षिण भारत में ऋष्यमूक पर्वत के निकटस्थ क्षेत्र से स्वयं खोज कर निकाले चित्रों का समय तृतीय सहस्राब्दी ई० पू० के लगभग अनुमानित किया है। मुझे स्वयं मिर्जापुर के समीपवर्ती 'विंढम' नामक स्थान पर प्रवाहित धारा के सामने वाले किनारे पर एक शिला खंड के ऊपर अनेक चित्र

१. Prehistoric India—page 35.

२. Primitive Art—page 132-133.

अंकित मिले, जिनके आदिम होने में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता क्योंकि वही पशु-आखेट का विषय और वैसी ही मुक्त भंगिमा जो अन्यत्र दिखाई देती है, इनमें भी मिलती है ; भले ही उनकी प्राचीनता की पूर्व सीमा के विषय में मतभेद की सम्भावना बनी रहे। प्रसिद्ध चित्रकार असित कुमार हालदार ने मध्यभारत के कई अन्य स्थानों का नामोल्लेख भारतीय कला विषयक अपने ग्रन्थ में किया है।[1] पूर्वोक्त सिंगनपुर, होशंगाबाद के अतिरिक्त मिर्जापुर जिले में लिखनिया कोहबर तथा भल्डरिया नामक स्थानों पर गुफाचित्रों की प्राप्ति की सूचना उनकी कृति से मिलती है। बिहार में चक्रधरपुर के निकट जो चित्र मिले हैं उनका काल तीन सहस्राब्दी ई० पूर्व तक माना जाता है, इसका निर्देश उन्होंने किया है।

उपर्युक्त विवरण में भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रों की प्राचीनता तथा उपलब्धियों की ही सूचना एकत्र मिलती है। कला एवं सौन्दर्य-बोध की दृष्टि से कुछ भी नहीं कहा गया है। वस्तुतः बात यह है कि अभी इन चित्रों की ऐसी प्रतिकृतियाँ या फोटोग्राफ सुलभ नहीं हैं जिनका सहारा ले कर किसी प्रकार का व्यवस्थित अध्ययन किया जा सके। चित्रित गुफाएँ भी प्रायः ऐसे दुर्गम स्थानों में हैं कि उन तक पहुँच पाना ही एक समस्या है। चित्रों की विषय-वस्तु एवं कला-सौन्दर्य का अनुशीलन तो बाद की बात है। पर इतनी शोध हो चुकने के पश्चात अब ऐसी स्थिति आ अवश्य गई है कि इस दिशा में कोई व्यक्ति जुट कर कार्य करने के लिए प्रेरित हो सके। एक चित्रकार होने के नाते प्रागैतिहासिक चित्रों की शक्ति और सहज सौन्दर्य ने मुझे आकर्षित तो बहुत किया है पर क्या वह सौन्दर्याकर्षण भारतीय प्रागैतिहासिक चित्रकला के व्यवस्थित अध्ययन-अन्वेषण की क्षमता और गुफा-गुफा, जंगल-जंगल, फोटोग्राफर को साथ लिए भ्रमण करने की सामर्थ्य भी दे सकेगा, मेरे लिए तो यह अभी एक प्रश्न ही है। भारतीय पुरातत्त्व विभाग से पूछिए प्रागैतिहासिक चित्रों के सम्बन्ध में, उत्तर मिलता है अजन्ता के चित्रों के बारे में। किमाश्चर्यमतः परम्।

---

१. Our Heritage In Art.

चित्र के तत्व और चित्रकला के विविध रूप

चित्रकला का मनुष्य समाज से अत्यन्त प्राचीन परिचय है। गुफावासी आदि मानव के मनोभावों ने भी भीतों पर रूप को अवतरित किया और आज का सभ्य मनुष्य भी नाना प्रकार से अपने जागृत-सुप्त-अर्धसुप्त मनोविकारों को चित्रित करने का प्रयास करता जा रहा है। मानव मन के विकास का बहुत कुछ इतिहास चित्रकला के अध्ययन से ज्ञात हो सकता है। विश्व की हर जागरूक सभ्यता ने चित्रकला के विकास में अपना योग दिया। चीनी कलाकारों ने प्रकृति का सजीव पर्यवेक्षण किया, ग्रीक शिल्पियों ने मनुष्य शरीर के सौन्दर्य एवं मन की सशक्त भावनाओं को रूप दिया, रोम में जीवन की सामूहिकता और करुणा को अभिव्यक्ति प्रदान की गई तथा इजिप्ट में आधिदैविक शक्तियों का सजीव चित्रण किया गया। भारत ने चित्रकला को कल्पना के सामंजस्य से आध्यात्मिक उच्चता तक पहुँचा दिया।

किसी भी कला की विशेषता और सफलता व्यक्तिगत आनन्द की समाजगत अनुभूति करा देने में है तथा उसकी महानता मनुष्य के मानसिक धरातल को उच्चतर बना देने में। भारतीय चित्रकला ने इन दोनों उत्तरदायित्वों को सम्हाला है अतएव वह सफल भी है और महान् भी।

इस पृष्ठभूमि में प्रस्तुत निबन्ध के अन्तर्गत चित्र के विभिन्न निर्माण-तत्त्वों तथा चित्रकला के विविध स्वरूपों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करने की चेष्टा की जायेगी।

चित्र की दार्शनिक व्याख्या

चित्र की अपेक्षा चित्रण की भावना और दृश्य-तत्त्व अर्थात् 'बिम्ब' (image) की कल्पना अधिक व्यापक सत्य हैं। अभिव्यक्ति के प्रत्येक आग्रह

में सूक्ष्म रूप से चित्रण की भावना अथवा वस्तु को रूपायित करने की इच्छा निहित रहती है और अनुभूति के हर स्तर में 'चित्रत्व' की कल्पना या बिम्ब-विधान समाविष्ट रहता है। अभिव्यक्ति कला के क्षेत्र में शब्द, स्वर, पाषाण, रंग-रेखा आदि किसी भी माध्यम से की जा सकती है और अनुभूति के भी रूपात्मक, भावात्मक एवं रसात्मक कई स्तर हो सकते हैं। नामरूपमय जगत में कोई भाव, कोई शब्द और कोई स्वर रूप के आभास से मुक्त नहीं है और जहाँ-जहाँ तक रूपाभास की सत्ता है वहाँ-वहाँ चित्रण और चित्रत्व की गति है। मनुष्य की चेतना का स्पर्श वाह्य वस्तुजगत अथवा आन्तरिक भावजगत दोनों में से किसी से भी होने पर जो स्मृति-चिह्न शेष रह जाते हैं वे अपने साथ किसी न किसी रूप का आभास छिपाये रहते हैं। ऐसे ही रूपाभास विशेष की अन्तर अभिव्यक्ति स्वतः चित्रत्व में परिणत होती रहती है और किसी भी माध्यम से उसकी वाह्य अभिव्यक्ति को उसका चित्रण कहा जा सकता है। रंग-रेखा के विशिष्ट माध्यम से व्यक्त रूपाभास को ही चित्र की संज्ञा दी जाती है। चित्र का निर्माण अभिव्यक्ति से पहले ही चित्रकार के मन में हो चुकता है, स्थूल माध्यम से उसकी अभिव्यक्ति बाद की वस्तु होती है। प्राचीन शिल्प-शास्त्र में मूर्ति के लिये चित्र और चित्र के लिए अर्ध-चित्र का प्रयोग हुआ है, ऐसा कहा जाता है।

नाम-रूप का भेद और चित्र

चित्र का मूलाधार रूप है जो नाम से कहीं अधिक विशेषता रखता है। जो जिस वस्तु से परिचित है वह उसके परिचायक शब्द के साथ ही उसकी आकृति का भी ध्यान करने लगता है। ऐसी स्थिति उत्पन्न होने का कारण नाम-रूप की अभिन्नता है। परन्तु किसी वस्तु के लिखित नाम और उसकी अंकित आकृति में, प्रभविष्णुता के क्षेत्र में, पर्याप्त अन्तर है। यद्यपि दोनों का सम्बन्ध आँख से है तथापि लिखित नाम का प्रभाव अंकित आकृति की अपेक्षा सीमित रूप में पड़ता है। रूप का प्रभाव अधिक निश्चित, अधिक व्यापक और अधिक ग्राही और पूर्ण होता है। 'गाय' शब्द से केवल गाय का ही बोध होता है किन्तु गाय की आकृति चित्रित कर देने से उसके आकार-प्रकार और भावभंगी सभी का ज्ञान हो जाता है। शब्द भाषा-ज्ञान की अपेक्षा रखता है किन्तु रूप सार्वभौमिक है तथा भाषा-ज्ञान-निरपेक्ष होकर प्रभावोत्पादन करता है। आँख अन्य ज्ञानेन्द्रियों की अपेक्षा अधिक सजग एवं शक्ति-सम्पन्न इन्द्रिय है

फलक—१

सिंगनपुर की गुफा में गेरुए रँग से अंकित आखेट का एक प्रसिद्ध प्रागैतिहासिक दृश्य जिसका निर्माण काल पुरा-पाषाणयुग का अन्तिम भाग प्रतीत होता है। एलेन हॉटन ब्रॉड्रिक की 'प्रिहिस्टॉरिक पेंटिंग' में प्रकाशित चित्र से अनुकृत।

फलक—२, चित्र—१. विंढम, मिर्ज़ापुर, के शिलाश्रय से अनुकृत एक उत्तर नवपाषाण काल का चित्र जिसमें पहियेदार गाड़ी पर एक सशस्त्र मानवाकृति अंकित है। गाड़ी में जुते पशु परिचित पशुओं से भिन्न प्रतीत होते हैं।

फलक—२, चित्र—२. विंढम, मिर्ज़ापुर, से अनुकृत शिकार के दृश्य का एक अंश जिसमें शिकारी कुत्ते भागते हुए पशुओं का पीछा कर रहे हैं।

फलक—३, चित्र—१.

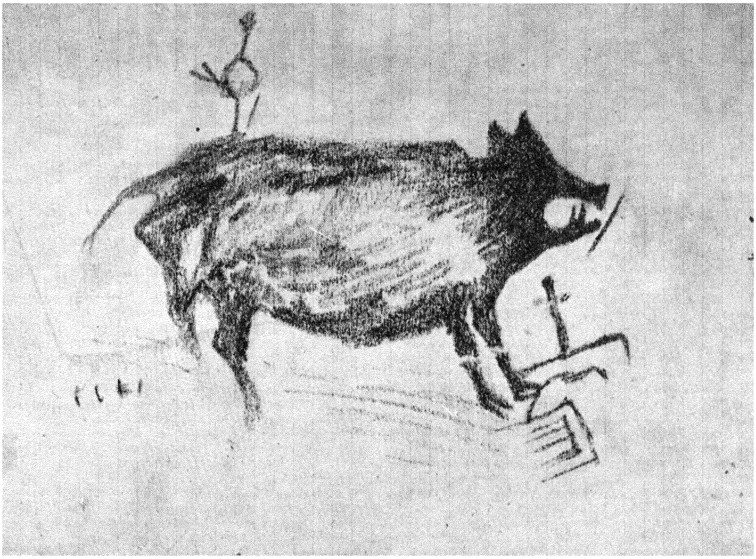

मिर्ज़ापुर क्षेत्र के एक शिलाश्रय से प्रतिकृत, गेरुए रंग में अंकित, घायल सुअर का चित्र।
नवपाषाण काल।

फलक—३, चित्र—२.

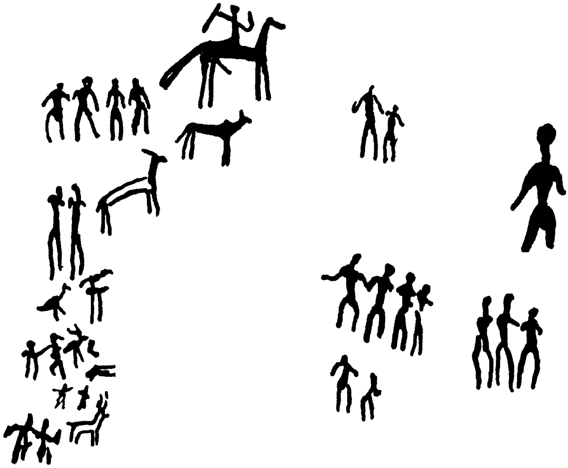

वेंकल फारेस्ट, रायचूर में प्राप्त नवपाषाण कालीन समूहांकन की अनुकृति जिसमें स्त्री-पुरुषों के विविध सकाम युग्म प्रदर्शित हैं तथा पशु-पक्षियों का भी चित्रण है।

फलक—४, चित्र—१.

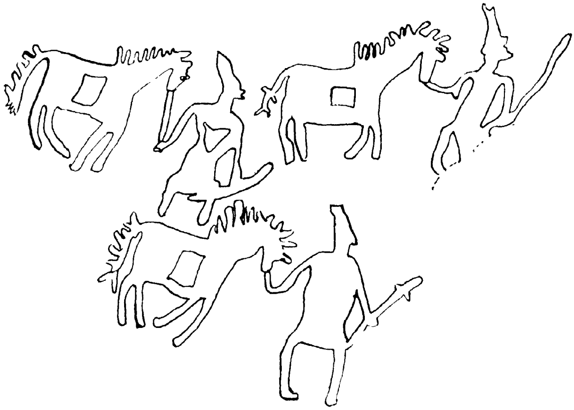

मलवा, बाँदा से प्राप्त एक समूहांकन की बाह्यरेखानुकृति जिसमें दंडधारी अश्वारोही अपने घोड़ों की रास थामे पैदल चल रहे हैं। उत्तर नवपाषाण काल।

फलक—४, चित्र—२.

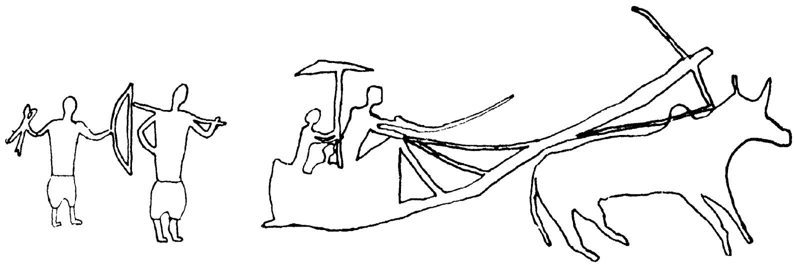

बाँदा जिले के सरहत नामक स्थान के समीपवर्ती शिलाश्रय से रेखानुकृत चित्र जिसमें बिना पहिए की बैलगाड़ी पर एक पदाधिकारी चित्रित है। उसके दो सेवक गाड़ी पर छत्रदंड थामे हैं तथा दो पीछे रक्षार्थ चल रहे हैं। उत्तर नवपाषाणकाल।

फलक—४,
चित्र—३.

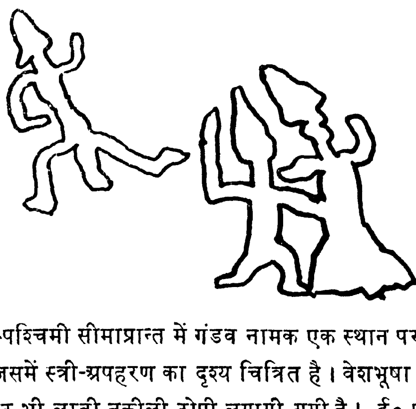

पाकिस्तान के उत्तरी-पश्चिमी सीमाप्रान्त में गंडव नामक एक स्थान पर अंकित कर्षणचित्रों में से एक रोचक चित्र जिसमें स्त्री-अपहरण का दृश्य चित्रित है। वेशभूषा असाधारण है। घाघरा पहने स्त्री के शीश पर भी लम्बी नुकीली टोपी लगायी गयी है। ई० पूर्व प्रथम सहस्राब्दी का मध्यभाग।

फलक—५, चित्र—१.

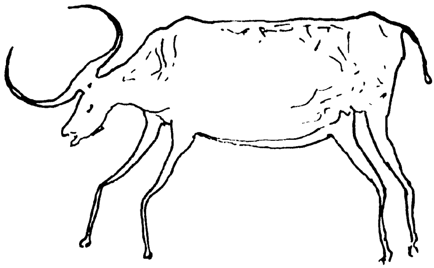

आदमगढ़, होशंगाबाद, के सर्वप्रमुख शिलाश्रय न० १०
पर भूरे रंग से अंकित महिष की रेखानुकृति ।

फलक—५, चित्र—२.

आदमगढ़, होशगाबाद, के शिलाश्रय नं० १० का समग्र दृश्य। इसमें ऊपरी भाग में हाथी के कानों पर 'जिराफ़ ग्रुप' अंकित है। उसके भी ऊपर दोहरी लाल रेखाओं में महामहिष का चित्र बना है जो एक नवोपलब्धि है और इस चित्र में प्रदर्शित नहीं है। इस सर्वप्रमुख शिलाश्रय पर विविध वर्णों में अंकित चित्रों की छः सतहें मिलती है जो विविध युगों की कला के विकासक्रम को द्योतित करती हैं।

फलक—५, चित्र—३.

आदमगढ़, होशंगाबाद के सर्वप्रमुख शिलाश्रय पर
अंकित अश्वारोहियो का एक समूहाकन ।

तथा विस्तार और सूक्ष्मता दोनों को ग्रहण करने में वह छठी ज्ञानेन्द्रिय मन के अत्यन्त सन्निकट रहती है।

यथार्थ रूप और भावजन्य रूप में अन्तर

केवल आँख से ही देखी हुई वस्तु का चित्रण यथार्थ रूप में कर देना कला की दृष्टि से कोई महत्त्वपूर्ण कार्य नहीं है। आधुनिक युग में तो इतना काम कैमरा भी कर देता है। किन्तु चित्र और चित्रकला का क्षेत्र यंत्र की जड़ता से कहीं अधिक भिन्न और व्यापक है। फोटो अथवा यथार्थ चित्र तथा भावजन्य चित्र में सब से प्रधान भेद रचयिता के व्यक्तित्व और रचना कार्य पर अधिकार का है। फोटो में इनका आपेक्षिक अभाव रहता है। यथार्थ रूप चित्रण की भी अपनी सीमा होती है। फिर अतीन्द्रिय मनोभावों को अंकित करने की क्षमता केवल चेतन-भावप्रवण-सहृदय कलाकार में ही हो सकती है। कलाकृति की श्रेष्ठता कलाकार की अनुभूति की गहराई और उसकी अभिव्यक्ति की सफलता से आँकी जाती है। यह सत्य है कि कहीं-कहीं यथार्थ अंकन और भाव-चित्रण, फोटो-ग्राफर और कलाकार एक दूसरे के पूरक सिद्ध होते हैं अन्यथा छल के उद्देश्य को छोड़ कर कला के क्षेत्र में यथार्थ रूप-चित्रण प्रायः हीन कला ही गिना जाता है। आधुनिक योरोपीय कला-वादों का विकास अधिकतर उसी की प्रतिक्रिया में हुआ है।

चित्र की सापेक्ष सिद्धि

चित्र की सिद्धि भी सापेक्ष रूप से होती है। जिस प्रकार भाषा में एक शब्द के सम्पर्क से दूसरे और दूसरे के सम्पर्क से तीसरे शब्द का अर्थ सीमित एवं स्पष्ट होता जाता है उसी प्रकार फलक पर बनती हुई रेखाएँ तथा आकार एक दूसरे के साहचर्य से अर्थवत्ता प्राप्त करते हैं। किसी चित्रण की अर्थ-गरिमा ही उसकी सिद्धि है। यों निरर्थक चित्र भी होते हैं जैसे निरर्थक ध्वनि किन्तु अर्थहीन चित्र का भावहीन होना अनिवार्य है, आकर्षक वह हो सकता है। चित्र के लिये भावहीनता कोई गुण नहीं है। चित्रपट पर अंकित एक वृत्त मात्र सर्वथा निरर्थक आकृति है परन्तु चारों ओर विकीर्ण रेखायें बनाने से वही सूर्य हो जाता है और आस-पास कुछ विन्दु रख देने से वही चन्द्र। वृत्त के नीचे हाथ के आकार की रेखायें खींचते ही वह गेंद का अर्थ ग्रहण कर लेता है। भाषा में अकेला एक शब्द अर्थ देता है किन्तु चित्र में 'केवल एक रेखा' निरर्थक है यदि वह स्वयं आवर्तनों के द्वारा अनेक रूप धारण नहीं करती। यह सापेक्षता

चित्रित वस्तुओं की स्थिति तथा उनके सामूहिक प्रभाव को भी व्यक्त करती है।

चित्र के निर्माण-तत्त्व

चित्रकला के विशेषज्ञों एवं चिंतकों ने निर्धारित किया है कि चित्र का निर्माण भी अनेक तत्त्वों से हुआ है। इस विषय में चीनी-जापानी, भारतीय और योरोपीय चित्रशास्त्रवेत्ताओं में मतभेद है। चीनी और भारतीय विश्लेषकों ने छः तत्त्व माने हैं परन्तु पाश्चात्य कला-आलोचक हर्बर्ट रीड ने केवल पाँच मूलतत्वों का ही उल्लेख किया है।

चित्र के चीनी विश्लेषकों द्वारा निर्दिष्ट तत्त्व[१]

१. आत्मिक सामंजस्य के आधार पर विकसित जीवन की गतिशीलता
२. रूप-कलेवर के चित्रण में तूलिका का प्रयोग
३. विषय के अनुरूप रूप-कल्पना
४. वस्तु के अनुरूप वर्ण-विन्यास
५. व्यवस्थानुरूप उचित-स्थान-विभाजन
६. परम्परा-पोषक अनुकरण

भारतीय शिल्प-शास्त्र में निर्दिष्ट तत्त्व[२]

१. रूपभेद
२. प्रमाण
३. भाव
४. लावण्य योजना
५. सादृश्य
६. वर्णिकाभंग

---

१. Painting—page 15.
1. Life motion enlarged by spiritual harmony.
2. Use of brush in rendering bone-structure.
3. Delineation of forms in conformity with the objects.
4. Application of colours appropriate to the kinds.
5. Spacing based on proper planning.
6. Copying of classic pictures and thereby preserving the tradition.

२. रूपभेदाः प्रमाणानि भावलावण्ययोजनम्,
सादृश्यं वार्णिकाभंग, इति चित्रं षडङ्गकम्।
—कामसूत्र की यशोधरी टीका, प्रथम अधिकरण, तृतीय अध्याय
विशेष विस्तार के लिए द्रष्टव्य, सम्मेलन पत्रिका, कला अंक।

हर्बर्ट रीड के द्वारा निर्दिष्ट तत्त्व[1]

१. Rhythm of line, रेखा-प्रवाह
२. Massing of forms, रूप-योजना
३. Space, रिक्त स्थान
४. Light and shade, छाया-प्रकाश
५. Colour, वर्ण

चीनी तत्त्व अवैज्ञानिक रूप से निर्दिष्ट हैं। साध्य के विश्लेषण के साथ-साथ साधन का भी समावेश कर लिया गया है। तूलिका के प्रयोग से रचना-प्रकार का परिचय मिलता है और परम्परा पालन से विधि का। किन्तु यह दोनों चित्र के मूल तत्त्व नहीं हैं। गतिशीलता भी चित्र का गुण है तत्त्व नहीं। तत्त्व की दृष्टि से 'रूप-कल्पना', 'वर्ण-विन्यास' तथा 'स्थान-विभाजन' इन तीन को ही स्वीकार किया जा सकता है। परम्परा का अनुकरण और आत्मिक दृष्टि चीनी कलाकार के स्वभाव को सूचित करती है। चीनी तीनों तत्त्वों का साम्य भारतीय और योरोपीय दोनों में मिल जाता है किन्तु 'स्थान-विभाजन' इस रूप में भारतीय तत्त्वों में नहीं मिलता। भारतीय विश्लेषक ने उसे 'प्रमाण' और 'सादृश' दो भागों में विभाजित कर दिया। पाश्चात्य छाया-प्रकाश का विधान न चीन में है न भारत में। भाव और लावण्य-योजना केवल भारतीय विभाजन में है।

वैज्ञानिक दृष्टि से पाश्चात्य विश्लेषक द्वारा प्रस्तुत चित्र के तत्त्व अधिक बुद्धिसंगत हैं किन्तु भारतीय चित्र की कल्पना कभी भाव-लावण्य से पृथक् होकर जी ही नहीं सकी, अतएव यहाँ के विश्लेषक ने इनका समावेश मुख्य तत्त्वों के रूप में किया है जैसे चीनी विश्लेषक ने आत्मिक सामंजस्य और जीवन की गतिशीलता को अनिवार्य माना है। वह स्थान-विभाजन को भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानता है। कहा जाता है कि एक चीनी कलाकार से जब यह प्रश्न किया गया कि चित्र में सब से महत्त्वपूर्ण अंश कौन सा होता है तो उसने उत्तर दिया कि वह स्थान जहाँ चित्रण नहीं होता अर्थात् 'blank space'। चीन में परम्परा पालन की प्रवृत्ति भारत से भी प्रधान रही है। चौथी शती के एक चीनी चित्रकार ने प्राचीन चित्रकारों के अनुकरण को अत्यन्त आवश्यक माना है। वहाँ चित्रण को चार मुख्य श्रेणियों में विभक्त किया गया है जिनमें

---

१. The meaning of Art.—page 37.

से प्रारम्भिक दो श्रेणियाँ केवल अनुकरण पर आधारित हैं और शेष दो में भी उसकी छाया है।

१. प्रतिलेखन—Tracing.
२. स्वतन्त्र पुनरालेखन—Reproduction without Tracing.
३. मूल तत्त्वों की पूर्वस्थिति के साथ नव अर्थदान—Interpreting newly with main characteristics as the same.
४. संक्षेप—Reduction.

प्राच्य कलाकार का उद्देश्य सदैव प्राचीन परम्परासिद्ध तत्त्वों को लेते हुए नवीन दिशा का निर्माण करना रहा है।

चित्र के विभिन्न गुण

चित्र के मुख्य गुण 'भाव' (emotion), अभिव्यंजन (expression) तथा लय (rhythm) माने जाते हैं। गति (movement) लय से अभिन्न होने के कारण उसी के अन्तर्गत आ जाती है। गति के बिना लय का प्रश्न ही नहीं उठता। चित्र अन्ततः स्थिर वस्तु है अतएव उस में गति का प्रदर्शन लाक्षणिक रूप से ही संभव है। दो सीधी लकीरों के किनारे फन बना देने पर भी साँप बन जायेगा किन्तु लहराती हुई लकीरों से बने हुए साँपों में गतिशीलता का भी आभास मिलने लगता है। अजन्ता में बने गंधर्व यूथ, अप्सराएँ तथा इन्द्र आदि के चित्रों की आकाशचारिता प्रदर्शित करने के लिये आभूषणों की, वस्त्रों की और अंगों की भंगिमा को ऊपर की ओर आलम्बित करके उड़ने का सफल आभास दिया गया है।

चित्रपट पर एक पत्ती बना देने से केवल पत्ती मात्र की व्यंजना होती है किन्तु उसके वृन्त को लहराता हुआ बना कर समानान्तर अनेक वैसी ही पत्तियाँ बनाते ही सारे अंकन में एक प्रवाह आ जाता है। यहाँ तक चित्र भाव से रिक्त केवल रेखाओं के संगीत पर ही रुक जाता है किन्तु जब उसमें हृदय के विकारों का संगुम्फन किया जाता है तो उसकी रूप-रेखा एक नवीन प्रकार ग्रहण कर लेती है। भावना से संयुक्त होकर चित्र को प्राण प्राप्त हो जाते हैं और उसमें कुछ कहने की शक्ति आ जाती है।

चित्र-रचना और चित्र-कला की भिन्नता

सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि चित्र-रचना और चित्र-कला में अन्तर है और बहुत गंभीर अन्तर है। प्रत्येक चित्रकार कलाकार नहीं होता।

आजीवन चित्र रचना करने वाले भी कला के तत्व को कभी-कभी एक बार भी नहीं छू पाते । जिस प्रकार तुक मिला देने से ही कोई कवि नहीं हो जाता उसी प्रकार रंग-रेखाओं से आकृतियाँ भर बना देने से कोई चित्रकार कलाकार नहीं हो जाता । कला के लिये सौन्दर्य भी कोई अनिवार्य शर्त नहीं है।[1] वह एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलती है। उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये रूप की कल्पना वर्ण की संयोजना, स्थान-विभाजन आदि सारी प्रक्रिया की जाती है। पहला प्रश्न चिह्न इस उद्देश्य के आगे ही लगाया जा सकता है। जिसका उत्तर देना सरल नहीं है। कलाकार एक व्यापक सत्य, एक व्यापक शक्ति और एक व्यापक रूप का, प्रेरणा के आवेग में, दर्शन करता है और उसकी पूर्ण अभिव्यक्ति ही उसका उद्देश्य बन जाता है। कभी उसमें सौन्दर्य की लालसा रहती है, कभी विश्वकल्याण की कामना और कभी-कभो केवल कुछ कह देने मात्र की इच्छा। ऐसी मनः-स्थिति में कलाकार ऐसे रूपों का सृजन करता है जो अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं, जो प्राणवान् होते हैं और जिनमें उसकी आत्मा का सदेश छिपा रहता है। टर्नर, पिकासो या रोरिक किसी भी कलाकार के चित्रों को इस भूमिका में परखा जा सकता है। इसी उद्देश्य की भिन्नता के कारण पृथक्-पृथक् कलाकार अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व प्रकट करता है और यही उद्देश्य विभिन्न देशों की कला की विषमता और समताओं का मूल रहस्य है।

प्राच्य ग्रौर पाश्चात्य चित्रकला

चीन, जापान, भारत और फारस की कला का एक स्वर है और ग्रीस, इटली, इंग्लैंड, अमरीका तथा फ्रांस की कला का दूसरा। अतएव चित्र कला को इन दो वर्गों में विभाजित करना निराधार एवं अनुचित नहीं है। दोनों वर्गों में अनेक महत्वपूर्ण विषमताएँ हैं। प्राच्यवर्ग की अभिव्यक्ति रेखा प्रधान और उद्देश्य रसात्मक और आध्यात्मिक रहा है ; पाश्चात्य वर्ग की अभिव्यक्ति छाया-प्रकाश एवं वर्ण प्रधान तथा उद्देश्य भौतिक (रूपात्मक) और मनोवैज्ञानिक। इन मान्यताओं के अनेक अपवाद भी हैं जिनका उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है। इसके लिये दोनों वर्गों की चित्रकला के इतिहास पर दृष्टिपात करना होगा। वर्तमान स्थिति तक पहुँचने में दोनों वर्गों को एक लम्बे पथ से आना पड़ा है।

---

१. "The purpose of art which is the communication of feeling is inextricably confused with the quality of beauty, which is the feeling communicated by particular forms."
—Herbert Read. The Meaning of Art.—page 20.

पाश्चात्य चित्र-कला के मूल में इजिप्ट की कला है। वहीं से इसका प्रसार सारे योरोप में हुआ। ग्रीस में कला का विकास उसके बाद हुआ किन्तु अनेक नवस्फुरण होते हुये भी स्रोत मूलतः वहीं से सम्बद्ध रहा। ग्रीक कला के आश्चर्य-जनक कल्पना विलास के बाद भी मनुष्य का भौतिक रूप, उसके शरीर की पुष्ट मांस-पेशियाँ प्रत्येक मूर्ति में अत्यन्त सौकर्य के साथ प्रदर्शित की जाती रहीं। सारी रूप-योजना प्रकृत मानव के सौन्दर्य के आलेखन में रत रही। मनुष्य की आत्मा के प्रकाश में किसी भी आकार की कल्पना नहीं की गई। किसी भी ग्रीक मूर्ति और बुद्ध-प्रतिमा को मिला कर देखने से यह अन्तर स्पष्ट हो जायेगा।

ईसाई धर्म के प्रभाव में जिस कला का विकास हुआ उसमें अवश्य कुछ दैवी रूप-योजना का आग्रह मिलता है। बाइज़ेन्टाइन कला शैली की यही विशेषता रही है। किन्तु भौतिकवाद के विकास के साथ जहाँ धार्मिक प्रभाव उतार पर आया, चित्र-कला ने एक नवीन रूप धारण किया जिसमें प्रकृत रूप-योजना और भौतिक आलेखन का एकछत्र राज्य रहा। इटली में, इंग्लैंड में, फ्रान्स में सभी कहीं इन्हीं आदर्शों पर चित्र निर्माण होता रहा। Giotto से लेकर Cezanne तक की सारी कला में भौतिक रूप का ही चित्रण होता रहा। रैफेल, टिटियन, रेम्ब्राँ, मोनेट और माइकेल एन्जिलो सभी एक प्रकार से ग्रीक आदर्श पर चलते रहे। इसके उपरान्त 'बैरौक' (Baroque) कला का उदय हुआ। यह भी मूलतः कोई अन्तर स्थापित न कर सकी। फ्लोरेन्स, वेनिस, लन्दन और पेरिस सभी कला-केन्द्रों में यथार्थ चित्रण होता रहा। त्रिपार्श्विक चित्रण से एक बार परिचय प्राप्त हो जाने पर शताब्दियों तक योरोप की चित्रकला में उसे प्रश्रय मिलता रहा। प्रभाववादी कला के विकास ने इसका मलोच्छेदन किया और इसके बाद योरोपीय चित्र-कला यथार्थ चित्रण से हटकर मानसिक चित्रण की ओर झुक गई।

दूसरी ओर चीन, जापान और भारत की चित्रकला के इतिहास को देखने से ज्ञात होता है कि यहाँ भौतिक रूप-चित्रण, त्रिपार्श्विकता, छाया-प्रकाश तथा प्रकृत वर्ण-विन्यास का सर्वथा अभाव रहा। यहाँ मैं कुछ विदेशी आलोचकों के कथन उद्धृत करता हूँ जिससे इस विषय में स्थिति पूर्णतया स्पष्ट हो जायेगी।

I. Where the European is content to translate a given Scene into point, the Oriental absorbs the whole district into his sytem and then gives it off again in terms of brushwork.[1]

---

१. European Painting and Sculpture, by Eric Newton.—page 31-32.

2. The result is that Oriental art is not concerned with the nature of visual experience as is the art of West.
3. Again, 'Oriental art is not concerned with light and shade, since light and shade are accidents that have no connection with the objects on which they fall.

II. In Chinese art, in Persian art, in Oriental art generally motives are used, not realistically but sensuously—that is to say, they merely contribute to the general rhythm and vitality of the artists patterns.[१]

III. 1. The art of the far East aims to depict the spirit rather than the semblance of a thing.
2. So the mission of an oriental artist is not necessarily to represent but to interpret the inner meaning of his subject.[२]

आधुनिक चित्रकला : एक संधि-विन्दु

संसार की चित्रकला के इस द्विधा विभाजन और समता-विषमता के बाद भी आधुनिक युग दोनों को एक ही दिशा की ओर लिये जा रहा है। पिछली शताब्दी में पेरिस आदि प्रधान योरोपीय कला-केन्द्रों में जितने आन्दोलन हुए हैं सब इस बात के सूचक हैं कि अब पाश्चात्य कला यथार्थ भौतिक अंकन को छोड़ कर नवीन-नवीन दिशाओं में विभिन्न प्रयोग कर रही है। Impressionism, Fauvism, Cubism, Futurism और अब Surrealism आदि तक जो वादों का आवर्तन-प्रत्यावर्तन गत शताब्दी में हुआ है उससे स्पष्टतया प्रतीत होता है कि महायुद्धों के कारण भौतिक आलेखन की रीढ़ टट गई है। पिकासो और सेज़ाँ इस बात के द्योतक हैं कि अब योरोपीय कला फिर पीछे नहीं मुड़ेगी। किन्तु वह जहाँ है वहाँ से उसे और आगे जाना है। प्राणी में मन और उसके रहस्य ही सब कुछ नहीं हैं उसके अन्दर आत्मा भी है और उसके प्रकाश की अभिव्यक्ति कला का चरम उद्देश्य होना चाहिये। प्राच्य देशों ने इसे पहचाना और अपनी शैली में व्यक्त किया। अब आवश्यकता इस बात की है कि पाश्चात्य कला भी इसे पहचाने और अपनी शैली में अभिव्यक्त करे। जहाँ तक यथार्थ चित्रण और भौतिक आधार लेने का प्रश्न है आज दोनों वर्गों की चित्र-कला उनसे हटी हुई है। जहाँ योरोपीय कला के लिये मनोवैज्ञानिक चित्रण से ऊपर

१. The Meaning of Art, H. Read.—page 25.

२. Painting—page 11.

उठने की आवश्यकता है वहाँ भारतीय कला के लिये भी यह आवश्यक है कि वह योरोप द्वारा परित्यक्त यथार्थ अंकन की ओर प्रवृत्त न हो। भारत में नवीनता के नाम पर ऐसे प्रयोग भी हो रहे हैं जिनकी निस्सारता पश्चिम में सिद्ध हो चुकी है। अतएव वस्तुओं की आत्मा तक पहुँचकर कल्पना-वैभव तथा प्रसन्न वर्ण-योजना से चित्रण की जो प्राचीन परिपक्व शैली भारत को उत्तराधिकार में मिली है वह सर्वथा त्याज्य नहीं। उसके जीवन-दर्शन भाव-दर्शन तथा रूप-दर्शन की गहराई तक पहुँचने के बाद यदि उसमें सारहीनता प्रतीत हो तो अवश्य सारवान वस्तु की ओर उन्मुख होना वांछनीय है किन्तु नवीनता के मोह में सारवान वस्तु को त्याग कर निस्सार वस्तुओं के अन्ध ग्रहण की प्रशंसा कदापि नहीं की जा सकती। चाहे व्यक्ति-चित्र हों, चाहे दृश्य-चित्र हों और चाहे भित्ति-चित्र हों, एशिया की कला ने संसार की कला को महत्त्वपूर्ण दान दिया है और आज भी उससे मूलतः विमुख होकर उसका अपमान करने की आवश्यकता नहीं है। इस विषय में उपसंहार के रूप में एक भारतीय विद्वान के विचार उद्धृत कर देना असंगत न होगा।

Often the art of the post-Renaissance epoch in Europe is sterile because it hardly appeals beyond familiar fact and a part from interest in a model and expresses individual moods in reaction to the hostile enternal world, fantacies of the unconscious, unrelated to the larger community values that easily attach themselves to the enternal realities. Man's memory or the mind's associated mechanisms can merely depict or recreate external living. These cannot express the deeper ultimate values that link Self with Being and with all life. Out of this identification art obtains the abstract plastic and deeply rhythmic values characteristic of Oriental practice.

Due to the disassociation between art and religion in Europe the modernist painter in that continent moving away from Realism, Impressionism and post-Impressionism.[१]

१. The Social Function of Art.—Radhakamal Mukherji.—page 168.

आधुनिक चित्रकला का मूलाधार

आधुनिक चित्रकला की समस्या बहुत कुछ नयी कविता के समानान्तर है और ऐसा होना स्वाभाविक भी है, क्योंकि दोनों आधुनिक युग में एक नये भाव-स्तर पर आधुनिक मानस की उपलब्धियाँ हैं। उनका स्रोत एक है और प्रवाह-दिशा भी प्रायः एक ही है। इतना ही नहीं, उनके सम्बन्ध में साधारण 'सामाजिक' की प्रतिक्रिया भी एक जैसी दिखाई देती है। सामान्यतया वह नये रूप-विधानों, नयी शैलियों और नयी अभिव्यंजना-प्रणालियों के प्रति प्राचीन की अपेक्षा कम आत्मीयता का अनुभव करता देखा जाता है। एक ओर तो उसका हृदय शैलीगत विचित्रताओं से ऐसा चमत्कृत हो उठता है कि कलाकृति से पूर्ण रागात्मक सम्बन्ध स्थापित ही नहीं हो पाता और दूसरी ओर उसकी बुद्धि नयी रचनाओं की मूल प्रेरणा का सरलतापूर्वक कोई संगत आधार नहीं खोज पाती। कुल मिलाकर इसका परिणाम यह होता है कि वह एक आधुनिक कला-कृतियों का मुखर विरोधी बन जाता है या प्राचीन कला के पुनरुद्धार अथवा पुनर्संस्थापन का मौन समर्थक हो जाता है। दोनों ही स्थितियाँ किसी न किसी रूप में मानसिक गत्यवरोध को प्रश्रय देती हैं जो किसी भी देश की कला एवं साहित्य के विकास के लिए घातक कहा जा सकता है। यद्यपि पहले की अपेक्षा अब समस्या उतनी जटिल नहीं रह गयी है क्योंकि क्रमशः उस वातावरण का निर्माण होता जा रहा है जो नये मूल्यों को धारण करने में सहायक होता है, फिर भी आधुनिक कला पर विचार करते समय इस पक्ष को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। वास्तव में रचयिता और रचना के आस्वादनकर्ता के बीच के सम्बन्ध-सूत्र का छिन्न या क्षीण हो जाना किसी भी दशा में कल्याणकर नहीं हो सकता। आधुनिक कला यदि इसका अपवाद बनकर अपनी समृद्धि चाहेगी, तो उसे निराश ही होना होगा।

कला और कला-आस्वादक के बीच के सम्बन्ध-सूत्र में जो तनाव परिलक्षित होता है, विचार करने पर उसके कई कारण प्रतीत होते हैं। एक तो यही कि

आधुनिक कला में कलाकार के 'विशिष्ट अनुभव' को मान्यता प्राप्त हो गयी है। दुःख-सुख, हर्ष-विषाद, करुणा-क्रोध, वात्सल्य-माधुर्य आदि अनुभूतियों के ऐसे भेद हैं, जिनका अनुभव किसी न किसी रूप में सभी मनुष्यों को होता है अतः इन्हें सामान्य कहा जा सकता है। भारतीय रस-सिद्धान्त 'साधारणीकरण' के माध्यम से इन्हीं सर्व-सामान्य अनुभूतियों को प्रतिष्ठा देता रहा है। पर इन अनुभूतियों का एक विशिष्ट रूप भी होता है। प्रत्येक मनुष्य को अनुभूति दूसरे मनुष्य की अनुभूति की तुलना में ठीक-ठीक वही नहीं कही जा सकती, ऐसे कि सर्वथा अभेद स्थापित हो जाय। वाह्य जीवन अथवा वस्तुओं का सम्पर्क प्रत्येक मनुष्य में नितान्त एक जैसी प्रतिक्रिया सदा ही उत्पन्न नहीं करता। उसमें कुछ पृथक व्यक्तित्व होता है जिसे उसकी अपनी विशेषता कहा जा सकता है। इसकी स्थापना को 'साधारणीकरण' के विरुद्ध 'विशेषीकरण' की प्रक्रिया कहना होगा। इस प्रक्रिया का प्रभाव कला और साहित्य के क्षेत्र में इतनी तीव्रता से व्यक्त हुआ कि रचना-विधान और वस्तु-निरूपण के सारे प्राचीन परम्परागत नियम हाहाकार कर उठे। कुछ का शिरच्छेदन हो गया, कुछ का अंग-भंग और कुछ आहत अवस्था में अपने जीवन की अंतिम घड़ियाँ गिन रहे हैं। नायक ऐसा हो, कथा ऐसी, अंकन इस प्रकार हो, विषय यही हो सकता है आदि सारी की सारी सीमाएँ नये आवेग के साथ चरमराकर टूट गयीं। अब कलाकार वाह्य और अन्तर्जगत से सहज सम्बन्ध स्थापित करने और अपनी विशिष्ट अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिए मुक्त है। यह मुक्ति उसने सहसा नहीं प्राप्त कर ली। कला के इतिहास की पिछली एक डेढ़ शताब्दी उसके सतत संघर्ष की साक्षी है। इस संघर्ष में उसने बहुत कुछ खोया भी और पाया भी जिसका लेखा-जोखा एक स्वतन्त्र विषय है। संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि वह राज-मार्ग को तोड़-फोड़ कर भूमि की उर्वरता से सीधा सम्पर्क स्थापित करके पगडंडियों पर उतर आया— कंटकाकीर्ण, टेढ़ी-मेढ़ी, विकृत रूप, जटिल पगडंडियों पर। जिन्हें राज्यश्री विमुग्ध किये है, वे राजपथ पर चलने को ही साहित्य, कला और जीवन का अन्तिम मूल्य मानते हैं, परन्तु जो पगडंडियों के सहारे भूमि के असम्पृक्त छोरों तक पहुंचने को सार्थकता समझते हैं, उसे अधिक श्रेष्ठ अधिक मानवीय मूल्य मानते हैं उनकी गतिविधि दूसरी है। आधुनिक युग में हमने व्यक्ति-स्वातन्त्र्य के सामाजिक मूल्य को नये धरातल पर नये रूप में पहचाना है परिणामतः हम कला के साथ कलाकार के व्यक्तित्व को भी मान्यता प्रदान करने लगे हैं। मध्यकालीन कला की निर्वैय-क्तिकता आज की कला का आदर्श नहीं हो सकती, क्योंकि मानवीय दृष्टिकोण

के उदय का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि कला और साहित्य के क्षेत्र में विविध व्यक्तियों, विविध रचना-प्रकारों तथा शैलियों का अजस्र स्रोत फूट पड़ा और तरह-तरह के प्रयोग होने लगे जिनका मुख्य उद्देश्य यह है कि अनुभूतियों को ठीक-ठीक उनके विशिष्ट रूप में अवतरित किया जा सके। जो व्यक्तित्व संगठित हैं, दूसरे अर्थ में सामाजिक हैं उनका कृतित्व इस आवेग से बिखरा नहीं वरन् सँवर गया परन्तु जो व्यक्तित्व संगठित नहीं हैं उनकी कृतियाँ उच्छृंखलता, अनपेक्षित विचित्रता तथा असामाजिक भावनाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं और उन्हीं के कारण आधुनिक कला और आधुनिक कविता बहुत कुछ बदनाम होती है। व्यक्तित्व का उदय अहितकर नहीं है परन्तु उसका असंगठित होना अवश्य घातक है और मैं यह मानता हूँ कि व्यक्तित्व के असंगठित होने का सम्पूर्ण नैतिक दायित्व समाज पर थोप कर अपने को कोरा बचाया नहीं जा सकता। बात कुछ अलग जैसी लगती है पर वास्तविक स्थिति यह है कि बिना व्यापक परिप्रेक्ष्य में वस्तुओं को देखे आधुनिक कला का मूल स्वरूप स्पष्ट ही नहीं हो पाता।

नयी कला का स्वरूप निर्धारित करने वाले प्रमुख तत्त्वों में 'वैज्ञानिक दृष्टि' का महत्त्व भी 'व्यक्तित्व के उदय' से कम नहीं है। इसने समस्त चेतन और अचेतन जगत के प्रति एक तटस्थ विश्लेषण और विवेचना का सम्बन्ध स्थापित किया। फलतः बुद्धि और विवेक की पैनी धार ने समस्त अन्ध विश्वासों एवं पूर्वाग्रहों को, 'परम्परा' नामक धारणा के निर्माण में जिनका पर्याप्त योग रहा करता है, ध्वस्त करना प्रारंभ कर दिया है। यह तथ्य अब बहुत कुछ जाना हुआ है अतः इसका संकेत ही पर्याप्त है। मुख्य रूप से यहाँ देखना यह है कि कला के क्षेत्र में इस वैज्ञानिक दृष्टि ने अपने को समाविष्ट किस रूप में किया?

'सौन्दर्य' और 'कृतित्व' कला के यही तो प्रमुख मापदंड हैं। उपयोगिता की दृष्टि से कला का मूल्यांकन करने के सिद्धान्त में जो मूल त्रुटि रही है उसका उद्घाटन अनेक विद्वानों ने इतने प्रकार से कर दिया है कि अब उस पक्ष को हठपूर्वक स्थापित करने का प्रयास वैचारिक जड़ता ही कहलाएगी। यह नहीं कि कला-कृति का कोई उपयोग ही नहीं होता वरन् यह उसकी 'सार्थकता' अथवा 'उपयोगिता' हमारे जीवन के उन सूक्ष्म स्तरों से सम्बन्ध रखती है जिनकी भूख-प्यास को हम साधारण स्थूल 'उपयोग' शब्द में सीमित नहीं कर सकते। 'सौन्दर्य' और 'कृतित्व' की परम्परागत धारणाओं को वैज्ञानिक दृष्टि ने गहरे रूप में प्रभावित किया है। कला का वास्तविक अर्थ खोजते-खोजते हर्बर्ट रीड

इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि 'सौन्दर्य' शब्द से वस्तुतः समस्त कला-कृतियों का मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। इस स्थापना में पर्याप्त सत्य है। शेष रहा 'कृतित्व'। शायद ही ऐसा कोई कला-मर्मज्ञ हो जिसने कला के क्षेत्र में कृतित्व का विशिष्ट महत्त्व स्वीकार न किया हो। श्रेष्ठ कला वस्तुतः मनुष्य में निहित सूक्ष्म किन्तु अदम्य कृतित्व-शक्ति का ही मुक्त प्रस्फुटन है जिसकी सार्थकता मानव व्यक्तित्व को अधिकाधिक पूर्ण, परितुष्ट एवं संवेदनशील बनाने में है। वैज्ञानिक दृष्टि ने एक तो इस कृतित्व की वास्तविक महत्ता को उद्‌घाटित किया और इस प्रकार कला के मूल्यांकन के बहुत से ऊपरी आधार-दंडों को तोड़ दिया। अपनी विश्लेषणात्मक प्रकृति के कारण एक मौलिक अन्तर जो इसने ला दिया वह यह है कि निर्माण-क्रम में संघटन और संयोजन के साथ विघटन और विभाजन को भी स्थान मिल गया। जिन वस्तुओं को हम सदा ही एक आवयविक अखंडता में परिकल्पित करते आये उनको नयी चित्रकला ने खंडित करके नये आवयविक संगठन की नींव डाली जिसका सम्बन्ध वस्तु से अधिक उन रूपों एवं आकारों में होता है जो उस वस्तु में निहित रहते हैं अथवा जो कलाकार को उस वस्तु में आभासित होते हैं। आधुनिक कला को समझने में इस तथ्य का ज्ञान बहुत ही महत्व रखता है। पिकासो तथा उनकी धारा के अनेक चित्रकारों की कृतियाँ अपने रूप-संगठन में विघटन की प्रक्रिया को आन्तरिक रूप से समाविष्ट किए हुए हैं। उनकी रूप-कल्पना बहुधा इसी आधार पर की गयी प्रतीत होती है। विघटन और संघटन की यौगिक प्रक्रिया के विचित्र आकृतियों की एक विशाल सृष्टि रच डाली जो अन्य प्रकार का प्रभाव डालने से पूर्व चकित अवश्य करती है क्योंकि सुपरिचित प्राकृतिक रूपों से उसका मौलिक भेद रहता है। यह नयी सृष्टि वहीं तक सार्थक समझी जानी चाहिए जहाँ तक वह कलाकार की मूल-संवेदना को शक्ति देने, समृद्ध बनाने तथा उसे सम्यक् रूप से व्यक्त करने में सहायक सिद्ध हो अन्यथा मात्र वैचित्र्य का सृजन कभी भी श्रेष्ठ कृतित्व की संज्ञा नहीं पा सकता। कहना न होगा कि इस दिशा में बहुत सा सृजन ऐसा भी हुआ है और हो रहा है जो स्वयं सार्थकता-शून्य ही नहीं वरन् एक बहुत बड़े 'कन्फ़्यूज़न' का परिचायक भी है। वैज्ञानिक दृष्टि अनियन्त्रित उच्छृंखलता को कभी प्रश्रय नहीं देती। उसका लक्ष्य तो वस्तु-तत्त्व को अधिक परिष्कृत, अधिक केन्द्रित और अधिक परिशुद्ध रूप में उपलब्ध करना रहता है। तात्त्विक दृष्टि से देखने पर प्रकट हो जाता है कि आधुनिक कला और साहित्य की प्रगति इसी उपलब्धि की ओर है।

प्राचीन से नवीन एक सीधा संतरण नहीं है, बीच में प्राचीन संस्कारों के ध्वंस का अत्यंत महत्त्वपूर्ण इतिहास निहित है और इस तथ्य का ज्ञान भी नयी चित्रकला की बहुत सी बदनाम कृतियों को समझने में सहायक होगा। आधुनिक कला की बहुत सी रचना-शक्ति प्राचीन संस्कारों को ध्वंस करने में व्यय हुई है और हो रही है। इस उद्देश्य से रची गयी कृतियों के प्रति जनता का वैसा रागात्मक सम्बन्ध नहीं हो सकता जैसा रचनात्मक उद्देश्य से प्रेरित कलाकृति से सहज ही हो जाता है। मध्यकालीन कला में यह ध्वंस-चेतना लगभग थी ही नहीं फलतः लोकप्रियता में ऐसी कोई बाधा उपस्थित नहीं हुई। योरोपीय चित्रकारों में 'पिकासो' का उल्लेख किया जा चुका है, इस क्षेत्र में 'पॉल क्ली' आदि अन्य कलाकारों का नाम और लिया जा सकता है। इनकी बहुत-सी रचनाएँ ऐसी हैं जो 'महत्' और 'उदात्त' को मुँह चिढ़ाती सी लगती हैं और इसीलिए उनकी उपेक्षा करना भी कठिन हो जाता है। ग्राह्य-अग्राह्य, प्रिय-अप्रिय के इस संघात के बीच वास्तविक एवं कृत्रिम में भेद करना एक दुष्कर कार्य हो रहा है और आधुनिक कला के सम्बन्ध में बहुत सी भ्रांतियाँ इसी कारण उत्पन्न हो गयी हैं। आवश्यकता इस बात की है कि कलाकार, आलोचक और सामान्य दर्शक तीनों के दृष्टिकोणों को समझ कर एक ऐसे केन्द्र-विन्दु की स्थापना की जाय जिससे तीनों की दूरी कम से कम रह जाय।

भारतीय चित्रकला में आधुनिकता बहुत कुछ पाश्चात्य प्रभाव से आयी है अतः पश्चिम की आधुनिक चित्रकला की विकास-रेखा क्या है इस पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है।

योरोप की चित्रकला के आधुनिक युग का आरम्भ प्रसिद्ध फ्रेंच चित्रकार 'सेज़ां' (१८३९-१९०६) से माना जाता है। उसी के द्वारा ग्रहीत अभिव्यंजना-शक्तियों को सैद्धान्तिक रूप देने से उस वर्ण-विन्यास और उस रूप-विधान की स्थापना हुई जिसके आधार पर अनेक आधुनिक शैलियाँ विकसित हुई। उसने रूप-संयोजन में जो ज्यामितिक कल्पना का प्रयोग किया वही बीज पल्लवित होकर 'क्यूबिज़्म' (घनवाद) बना तथा सेज़ां के ही द्वारा सरलीकरण का जो क्रम अपनाया गया वह अधिकाधिक सूक्ष्म होकर 'एब्सट्रेक्ट' अथवा अमूर्त कला में परिणत हो गया। 'घनवाद' और 'अमूर्त रूप-विधान' निश्चय ही आधुनिक कला के दो प्रमुख अंग हैं जिन्हें मात्र शैली कहना अधिक उपयुक्त न होगा। आधुनिकता का आग्रह प्रेरक भाव को शुद्ध से शुद्ध रूप से ग्रहण करने की ओर रहा है जिसका स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अलंकरण का अनावश्यक बोझ

चित्रों पर से उतर गया। परिशुद्धता की इस प्रवृत्ति के कारण भी आधुनिक चित्र-कला में कुछ दुरूहता आ गयी है। किन्तु अब कलाकार को मौलिक सूक्ष्म तत्व की उपलब्धि से विमुख नहीं किया जा सकता, दर्शक को ही अधिक तत्त्वज्ञ और सूक्ष्मदर्शी होते जाना है। निश्चय ही रुचि के स्तर का यह उन्नयन समय और वातावरण की अपेक्षा करता है। एक दृष्टि से यह भी कहा जा सकता है कि आधुनिक कला ने अपने प्रभाव क्षेत्र को एक विशिष्ट सौन्दर्य-बोध की प्रणाली अपना कर संकुचित कर लिया है पर इस से यह सिद्ध नहीं होता कि उसने सामान्य रुचि का परिष्कार नहीं किया अथवा उसका क्षेत्र-विस्तार फिर नहीं हो सकता।

सामूहिक रूप से यदि आधुनिक कला की प्रकृति की विशेषता संक्षेप में बतानी हो तो कहा जा सकता है कि वह 'अधिक से अधिक व्यंजक रूपों की खोज है।' इसी प्रयत्न में वह बाल कला (चिल्ड्रेन्स आर्ट) की सरलता से आकर्षित हुई, इसी कारण वह आदिम कला (प्रिमिटिव आर्ट) की शक्तिमत्ता से प्रभावित हुई तथा इसी प्रयास में उसने लोक-कला (फ़ोक आर्ट) के तत्वों को अपने में समाहित किया। यह सारे का सारा अभियान मूलतः शुद्ध और सशक्त व्यंजना से रूपाकारों को भर देने के निमित्त ही हुआ और इसमें संदेह नहीं कि उसे पर्याप्त सफलता भी प्राप्त हुई है।

मनोविज्ञान के स्पर्श ने चित्रकला में एक सर्वथा भिन्न दिशा का उद्घाटन करके उसके कल्पना-जगत को अभूतपूर्व वैभव प्रदान किया है। 'सुर्रियलिज़्म' अथवा 'अतियथार्थवाद' अवचेतन मन के रहस्यमय सूक्ष्म व्यापार को कला में अवतरित करने में संलग्न रहा है। विचारकों ने इसकी महत्ता को स्वीकार करते हुए भी इसके सम्बन्ध में अनेक आपत्तियाँ उठायी हैं। एक तो इस में कला-तत्त्व की अपेक्षा मनोविज्ञान पर अधिक बल रहता है दूसरे विषय-वस्तु को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देता हुआ यह जीवन के एक पक्ष तक ही अपने को सीमित कर लेता है। तीसरी बात यह है कि चेतन की अपेक्षा अवचेतन के निरूपण के प्रयास में वह कल्पना का एकान्तिक प्रयोग करने लगता है जो कला-क्षेत्र के लिए विशेष उपयुक्त नहीं है। यह और ऐसे अनेक दोष गिनाये जा सकते हैं पर इसके द्वारा भी अनेक अमूल्य कलाकृतियों की सृष्टि हुई है इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता।

आज योरोपीय चित्र-रचना और भी नये-नये वादों के नाम से विख्यात विविध शैलियों एवं अभिनव प्रयोगों में उलझी हुई है। नये वैज्ञानिक साधनों के

उपयोग से भी वह अपनी शक्ति का विकास कर रही है। चित्रकला की अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति का सिंहावलोकन करते हुए श्री जूलियन ट्रेवेल्यन इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अब योरोपीय कला में 'वादों' और 'घोषणा-पत्रों' का युग समाप्ति पर है। पेरिस का वातावरण चित्रकारों के संख्याधिक्य से आक्रान्त है। पिकासो के अनुयायी जो 'यथार्थवादी' और 'अयथार्थवादी' (रियलिस्ट और इर्रियलिस्ट) नामक दो वर्गों में विभाजित हो गये हैं, अब यह अनुभव करने लगे हैं कि पिकासो का व्यक्तित्व इतना विचित्र है कि उसका अनुकरण नहीं किया जा सकता। यह एक ऐसा परिणाम है जिस तक पहुँचने पर एक शून्यता का आभास होने लगता है और यह सही है कि योरोपीय कला इस अनुभूति से ग्रस्त है। आदिम कला का आकर्षण भी अब फ्रान्स में बीतने-सा लगा है। इंग्लैण्ड की चित्रकला में जो 'नव रोमांसवाद' का दौर शुरू हुआ था उसने भी किसी महान व्यक्तित्व को जन्म नहीं दिया और न पेरिस से ग्रहण किये गये अति यथार्थवाद ने ही कोई स्थिर रूप ग्रहण किया। अमरीका भी चित्रकला के क्षेत्र में पेरिस से बहुत प्रभावित रहा और बहुत समय तक वहाँ हर नये वाद का अनुकरण ही होता रहा जिस की छाया अब भी दूर नहीं हुई है। रूस की कला वीर-पूजा को नये युग में भी अपने से चिपकाये हुए है। अतिशय उपयोगितावादी उद्देश्य और मनुष्य को एक बँधी दृष्टि से देखने के कारण उस में आधुनिकता का वास्तविक उन्मेष नहीं आ सका है। पूर्वी देशों में चीन, भारत और इन्डोनेशिया अपनी सुदृढ़, समुन्नत परम्परा के साथ नये प्रभावों को संयुक्त करने की प्रक्रिया में संलग्न हैं परन्तु वे उनको अभी पूरी तरह पचा नहीं पाये हैं और आन्तरिक एकरसता के स्थान पर मिश्रण अथवा अनुकरण ही अधिक मिलता है। एक बात सामान्य रूप से कही जा सकती है और वह यह कि नयी परस्थितियों में चित्रकला अपनी सार्थकता सिद्ध करने के लिए सर्वत्र प्रयत्नशील एवं संघर्षशील है वस्तुतः अभी भी उसका संक्रान्ति-काल ही चल रहा है।

इतने परिचय के बाद यह प्रश्न सहज रूप से उपस्थित हो जाता है कि संसार की चित्रकला की भावी रूप-रेखा क्या होगी? इस समय उसकी उपलब्धियाँ क्या हैं और मुख्य अभाव कौन सा है जिसकी पूर्ति उसे करनी है? इस सम्बन्ध में एरिक न्यूटन की धारणा से प्रायः सहमत हूँ कि भावी चित्रकला की प्रवृत्ति उन तत्त्वों की खोज की ओर होगी जो अब तक अर्जित उसके प्रयोगों तथा शैलियों की शक्ति को अपने में स्थापित करके अधिक स्थायी रूप दे सकें। ऐसे तत्त्वों में मानवीयता तथा 'सम्पूर्ण जीवन के प्रति प्रगाढ़ आस्था' की गणना

की जा सकती है। इसके लिए कला को पुनः लोकोन्मुखी होना होगा परन्तु भावी युग में यह कार्य किसी 'धर्म-सम्प्रदाय' या 'राजशक्ति' से सम्पन्न न होकर कलाकार की सशक्त संवेदना और व्यक्तित्व के सहज विस्तार से ही सम्पन्न होगा ।

आधुनिक चित्रकला का विकास-क्रम

आधुनिक चित्रकला का विकास-क्रम स्थूल से सूक्ष्म, देह से मन, कृत्रिमता से अकृत्रिमता, समाजिकता से वैयक्तिकता तथा बन्धन से मुक्ति की ओर है। परम्पराओं को तोड़ने का आग्रह उसमें इतना अधिक रहा है कि वह स्वयं एक परम्परा बन गया है। आधुनिक चित्रों पर सबसे बड़ा आरोप यही लगाया जाता है कि वे समझ में नहीं आते ठीक वैसे ही जैसे प्राचीन संगीत। संगीत से तुलना यहाँ इसलिए की गयी है कि वास्तव में चित्रकला का आधुनिक स्वरूप एक प्रकार की संगीतात्मकता की ही ओर बढ़ रहा है। अर्थ से हीन स्वरों के उतार-चढ़ाव में जिस प्रकार एक सामंजस्यपूर्ण सुख होता है उसी प्रकार विशुद्ध रूप-विधान एवं वर्ण-योजना के विविध सामंजस्यों की खोज वर्तमान चित्रकला ने की है। परन्तु यह उसकी एक विशेषता है। उसकी दूसरी विशेषताएँ हैं श्रुति वैयक्तिकता जो सब प्रकार की दुरूहता का कारण है। इसके अनेक कारण दिये जाते हैं। एक मत है कि यह मुख्यतः धार्मिकता एवं सामाजिकता तथा वास्तविकता के भाव का परिणाम है--

Due to the disassociation between art and religion in Europe the modernist painter in that Continent, moving away from Realism, Impressionism and Post-Impressionism, now in his search for these abstract and rhythmic values or orders seeks inspiration neither in religious thought nor in contemplation of the physical universe but in complex and ingenious mathematical ratios and formulae and subjects mature to experimental distorsions and dissection under the guidance of the instinctive and the unconscious. The modernist abstract art in Europe resembles puritanism in its mistrust of the physical order in nature and at the same time in an antethesis of Paganism that established a method of achieving communian with nature. Unsupported by either religious or reference to the natural

order, it confuses the essential rhythms and symmetries that underline the scheme of the physical universe and man's relationship with fellow-man with the mathematical ratios.[१]

उपर्युक्त उद्धरण में काल्पनिकता तथा छांदसिकता के साथ-साथ गणित के सिद्धान्तों का परिपालन जो प्राकृतिकता के विरुद्ध है, को भी आधुनिक चित्रकला की सीमाओं के रूप में उल्लिखित किया गया है। परन्तु यह विवेचन उचित नहीं है क्योंकि इसमें आधुनिक कला के विकास-क्रम के यथार्थ ज्ञान का अभाव प्रतीत होता है। यह सत्य है कि धार्मिकता तथा यथातथ्यता आधुनिक कला में नहीं है परन्तु यही तत्त्व उसके स्वरूप को निर्धारित नहीं करते। इससे श्रेष्ठतर व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में मिलती है—

But what distinguishes the art of to-day from mediaeval art is its motive-force. I cannot believe that any branch of art can base itself for long mainly on aesthetic research.[२]

यहाँ कम से कम आधुनिक चित्रकला की वास्तविक विकास-प्रेरणा को परखा तो गया है। लेखक यह स्वीकार करता है कि आधुनिक चित्रकला की दिशा सौन्दर्य-बोध की सूक्ष्मता की खोज की ओर है। यह दूसरी बात है कि वह उससे सहमत नही है। वस्तुतः सौन्दर्य-बोध की नवीन परि-स्थितियों में नवीन रूप से विकसित होने की कथा ही आधुनिक चित्रकला की वास्तविक व्याख्या है। सौन्दर्य के प्राचीन मान चिरंतन नहीं हैं और प्राचीन परम्परागत धारणाएँ सौन्दर्य-जगत का केवल एकांगी प्रदर्शन करती हैं, यही मान्यता आधुनिक विचार धारा में है। आधुनिक चित्रकार वाह्यतः असुन्दर वस्तु में एक सूक्ष्म आभ्यंतरिक सौन्दर्य खोजता और देखता है। उसी का चित्रण उसका लक्ष्य है। साथ ही वह उसे इस प्रकार भी अंकित करता है कि वह परम्परागत चित्रण शैली से तनिक भी मेल नहीं खाता। यहाँ तक कि वह उसके विरुद्ध भी लगता है। आधुनिक चित्रकार रूप-विधान को विषय से भिन्न करके देखता है और उसकी शक्ति को पहचानता है। रूप-विधान मनुष्य की भावनाओं को अलंकृत, संस्कृत तथा परिष्कृत करने का ही साधन नहीं है वरन् उसके द्वारा वह चेतना की जड़ताओं को ध्वस्त भी कर सकता है। जिसे दृष्टि नहीं देख सकती उस अचेतन और उपचेतन के अंकन तक भी उसकी गति है। जिन विषयों को (Classical) मनोवृत्ति अग्राह्य मानती रही, वे उसके लिए नये संदेश के वाहक हैं। मनुष्य की जिन आदिम प्रवृतियों को संस्कारों के झूठे आवरण

१. Radha Kamal Mukerji—The social function of Art.—page 168.

२. —वही।

चढ़ा कर विकृत कर दिया गया है, वह उन्हें प्रकृत अवस्था में देखने की क्षमता रखता है और उनके उसी अविकृत रूप मे सौन्दर्य के दर्शन करता है। एक ओर उसका लक्ष्य रूप-विधान तथा वस्तु-संयोजन के चरम विकास तक पहुँचना है दूसरी ओर उसका आग्रह प्राचीन के साथ आती हुई जड़ता का ध्वंस भी है। चित्रकार के व्यक्ति को वह पर्याप्त महत्त्व देता है और उसे वह स्वतन्त्रता और वह मुक्ति प्रदान करता है जो पिछले समय में धर्म तथा नैतिकता के बोझ के कारण नहीं मिल सकी थी। इसमें असामाजिकता नहीं वरन सामाजिक मुक्ति का संदेश छिपा है। कला के क्षेत्र में व्यवित की स्वतन्त्रता उसकी सामाजिक तथा राजनैतिक स्वतन्त्रता का प्रतीक है।

अतएव आधुनिक चित्रकला के वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए आवश्यक है कि उसके विकास के पीछे जो प्रेरणा रही है उसे यथार्थ रूप में ग्रहण किया जाय। उन्नीसवीं सदी के अन्तिम चरण से लेकर बीसवीं अर्धशती तक चित्रकला में जो विभिन्न प्रयोग होते आये हैं उनका एक स्पष्ट लक्ष्य रहा है। प्रथम महायुद्ध के बाद मनुष्य की वाह्योन्मुखता पर गहरा आघात लगा और उसकी वृत्ति आभ्यन्तरिक सत्यों की खोज और उनकी अभिव्यक्ति की ओर प्रेरित हुई। इसमें केवल पलायन की प्रवृत्ति न होकर गंभीरतर सत्य की खोज भी छिपी हुई थी। किसी एक दिशा में बढ़ना दूसरी दिशा से पलायन कहा जा सकता है परन्तु ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि किसी दिशा विशेष में मनुष्य की प्रगति का एक उद्देश्य भी हो सकता है। विज्ञान की नवीन शक्तियों के संघात ने मनुष्य की चेतना पर प्रभाव डाला। मार्क्स और फ्रायड के जीवन-दर्शन ने उसके पुरातन विचारों को झकझोर दिया और यह कभी भी नहीं हुआ है कि विचार के क्षेत्र में कोई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हो और वह कला के क्षेत्र में तदनुरूप अभिव्यक्ति न पाये।

आधुनिक चित्रकला आधुनिक बौद्धिक मनुष्य की कृति है और उसके पीछे आधुनिक जीवन-दर्शन स्पष्टतया झलकता है। सामंती और पूँजीवादी समाज-व्यवस्था ने उत्तराधिकार में मनुष्य को जो दिया वह भी आधुनिक कला में प्रतिबिम्बित है। व्यक्तिवाद का इतना व्यापक रूप कदाचित इसी कारण है। चित्रकला ही क्या सभी कलाओं और साहित्य में व्यक्तिवाद की गहरी छाप है। मार्क्सवादी सामाजिक जीवन-दर्शन ने कला और साहित्य के क्षेत्र से व्यक्तिवाद को बहिष्कृत नहीं कर पाया क्योंकि वह एकांगीपन से ग्रस्त है।

फ्रान्स आधुनिक चित्रकला का केन्द्र रहा है और साथ ही नवीन विचार-

धाराओं के प्रति सर्वाधिक जागरूकता भी वहीं रही है इसीलिए जितनी शीघ्रता से विचार-क्षेत्र में परिवर्तन होते आ रहे हैं उतनी ही तीव्रता से कला के क्षेत्र में भी नवीन-नवीन शैलियाँ जन्म लेती जा रही है । विचारों तथा भावनाओं की प्रकृति तथा उनको व्यक्त करने वाली आकृतियों में एक प्रकार का सम्बन्ध रहा है। यद्यपि कला के क्षेत्र में आने वाले Impressionism आदि वाद आकृति अथवा रूप-विधान पर ही विशेष केन्द्रित प्रतीत होते हैं परन्तु उनके पीछे भाव तथा विचारों की छाया भी अस्पष्ट नहीं है ।

आधुनिक भारतीय चित्रकला की लोकोन्मुखी धारा

भारतीय शिल्प-कला में लोक-तत्त्व का समावेश किसी न किसी रूप में प्रायः सदा से ही रहा है। मध्यकाल में भी, जब उस पर शास्त्रीयता के बन्धन जटिल से जटिलतर होते गये, उसने अपनी इस प्रकृति को मूलतः बदल नहीं डाला क्योंकि जब हम राजसी वातावरण में उद्‌भूत होने वाली मध्यकालीन शिल्प-साधना के प्राण स्रोत के आन्तरिक स्तरों तक प्रवेश करते है तो उसकी चेतना का एक प्रमुख अंश लोक-जीवन से घनीभूत रूप में सम्बद्ध दिखायी देता है, भले ही उस पर धार्मिक, साम्प्रदायिक अथवा राजसी प्रभावों के आच्छादन अनेक प्रकार से छाये रहे हों।

आधुनिक भारतीय चित्रकला के प्रथम विकासकाल में प्राचीनोन्मुखी पुनरुज्जीवनवादी प्रवृत्ति का अतिरेक दिखायी देता है जिसमें स्वभावतः कृतित्व की अपेक्षा बाघ, अजंता आदि प्राचीन आदर्श शिल्प-सृष्टियों के प्रति अनुकृतित्व का भाव प्रधान मिलता है। आत्मगौरव तथा आत्मविश्वास अर्जित करने के लिए उस समय वह आवश्यक था परन्तु आधुनिकता की भावना को नवीन रूप में उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों के उदय ने, जिसे वर्तमान वैज्ञानिक यान्त्रिक युग की अनिवार्यता कहा जा सकता है, एक ऐसी दृष्टि दी कि कला के क्षेत्र में अनुकरणात्मक एवं कौशल-प्रदर्शन के स्थान पर मौलिक कृतित्व को अधिक मूल्यवान माना जाने लगा। यह वास्तव में उचित ही हुआ, क्योंकि इसी दृष्टिकोण से श्रेष्ठ कलाकृतियों की उपलब्धि संभव है। इस मान्यता की प्रेरणा से कलाकारों को इस बात की खोज करना आवश्यक हो गया कि वे मूल तत्त्व कौन से हैं, जो कृतित्व को शक्ति और सामर्थ्य प्रदान करने में सहायक हो सकते हैं। फलतः परम्परावादी शैली से हट कर एक ओर प्रागैतिहासिक चित्रकला तक

पहुँचे, दूसरी ओर लोक-शैली से आकर्षित हुए और तीसरी ओर बाल-कलाकृतियों में भी रुचि लेने लगे। कला के रूढ़िवादी मानदंडों में एक संक्रान्ति उपस्थित हो गयी, जिसे मनोविज्ञान के क्षेत्र से ग्रहण किये गये निष्कर्षों ने और भी जटिल एवं दुरूह बना दिया। इन सब का तात्कालिक विश्लेषण एक स्वतंत्र विवेचन का विषय है। आधुनिक भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में नये रूप से प्रवाहित होने वाली लोकोन्मुखी धारा, जिसके उद्भव का श्रेय यामिनी राय को दिया जाता है, के महत्त्व को इसी पृष्ठभूमि में देखा जाना चाहिए। लोक-जीवन का चित्रण तो आचार्य नन्दलाल वसु आदि ठाकुर-शैली के अग्रणी कलाकारों के द्वारा भी हुआ है परन्तु यामिनी राय का महत्त्व इसलिए विशेष है कि उन्होंने लोक-शैली को आभिजात्य कला के क्षेत्र में स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। लोक-जीवन का चित्रण और लोक-शैली में किसी वस्तु का चित्रण, तात्त्विक रूप से यह दोनों सर्वथा भिन्न वस्तुएँ है जिनके बीच के अन्तर को समझ लेना यामिनी राय द्वारा प्रवर्तित लोक-शैली की आधुनिक चित्रण प्रणाली के मूल्य बोध के लिए अत्यावश्यक है। लोक-जीवन का चित्रण आभिजात्य संस्कारों से युक्त किसी भी शैली में किया जा सकता है क्योंकि वह विषय के रूप में वस्तुपरक होकर आता है। इसी तरह लोक-शैली में किसी भी आभिजात्य विषय का चित्रण किया जा सकता है। आभिजात्य शैली की कोमल सुकुमार रेखाओं की अपेक्षा लोक-शैली की रेखाएँ दृढ़ता से युक्त, शक्ति-सम्पन्न, मुक्त, प्रवाहमयी तथा सुस्पष्ट होती हैं। इसी प्रकार वर्ण-विन्यास अथवा रंगों का विधान भी सूक्ष्म, मिश्रित एवं विशिष्ट न होकर चटक, अधिकतर मिश्रणहीन, मुक्त, स्पष्ट तथा सामान्य मिलता है। यामिनी राय ने लोक-शैली की इन विशेषताओं को कालीघाट के पट-चित्रों से अर्जित किया जिनका निर्माण कृतित्वहीन, रीतिबद्ध रूप में पेशेवर सामान्य चितेरों (पटुआ लोगों) के द्वारा सामूहिक क्रम में मात्र जीविकोपार्जन की दृष्टि से किया जाता है। एक-एक चितेरा एक दिन में सौ-सौ चित्र तक बनाने की क्षमता रखता है। देवी-देवताओं के विग्रहों, कृष्णलीलाओं तथा लोकरुचि के कतिपय अन्य नये-पुराने विषयों तक ही पटचित्रों का वस्तु-विस्तार सीमित रहता है। जिनका रूप-विधान आदिवासियों की कला जैसा न होकर मध्यकालीन ही होता है। इस सम्बन्ध में भारतीय कला-भवन, काशी से प्रकाशित 'कलानिधि' में ठाकुर-शैली के मान्य कलाकार असित कुमार हालदार के विचार द्रष्टव्य हैं। उन्होंने कालीघाट के इन पटचित्रों के रचना-विधान का विस्तृत परिचय दिया है किन्तु आश्चर्य है कि उन्होंने अप` लेख में यामिनी राय का उल्लेख तक नहीं

किया जिन्होंने प्रधान रूप से पट-चित्रों की उपेक्षित शैली को आधुनिक भारतीय चित्रकला के विकास-क्रम तक लाकर जोड़ दिया। इस रूप में यामिनी राय का स्थान भारतीय कला के इतिहास में अविस्मरणीय रहेगा परन्तु इधर एक स्वतंत्र कलाकार के रूप में उनके कृतित्व का मूल्यांकन किया जाने लगा है जिसमें कुछ मौलिक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं। दिल्ली के 'शिल्पी-चक्र' की ओर से कुछ समय पूर्व एक प्रश्नावली प्रवर्तित की गयी थी जिसमें अन्य अनेक प्रश्नों के साथ यह प्रश्न भी सामने रक्खा गया कि क्या यामिनी राय को कला केवल नागरिक या आभिजात्य संस्कारों की प्रतिक्रिया के रूप में ग्रहण की जानी चाहिए अथवा उसमें लोक-अभिव्यक्ति के मूल उत्स तक पहुँचने की प्रेरणा प्रमुख मिलती है। प्रश्न निश्चय ही मार्मिक है और जब हम इसका उत्तर यामिनी राय की उपलब्ध कला-कृतियों में खोजने जाते हैं तो वह बहुत आशाजनक नहीं दिखायी देता क्योंकि यामिनी राय ने स्वयं अप े चित्रों की अनेक प्रतिकृतियाँ की हैं और कुछ चित्रों को देख लेने के बाद उनके अन्य चित्रों की ताज़गी और आकर्षण कुछ न कुछ क्षीण होने लगता है। फिर भी सन १९२१ के आस-पास उदय होकर उनके व्यक्तित्व ने आधुनिक भारतीय कला में जो चकाचौंध उत्पन्न की उसको योरोप से भी मान्यता प्राप्त हुई। यह इसलिए कि आधुनिक योरोपीय चित्रकला में लोक-शैली की स्थापना बहुत कम मिलती है और शायद सलिए भी कि भारतीयता का तत्त्व इस लोक-शैली में उभर कर व्यक्त हुआ है। राष्ट्रीयता और मानववादी संस्कारों को लोक-शैली के ग्रहण से बल मिला जो देश की विशिष्ट ऐतिहासिक अवस्था में अपेक्षित था। यामिनी राय की मान्यता का एक प्रमाण यह भी है कि उनकी शैली ने अपने प्रभाव से अनेक कलाकारों को उस दिशा में प्रवृत्त होने की प्रेरणा दी। इस दृष्टि से शीला ऑडेन, के. श्रीनिवासुलु, लक्ष्मण-पाइ, तथा पी. एल. नरसिंहमूर्ति के कृतित्व का उल्लेख किया जा सकता है क्योंकि इन कलाकारों ने लोक-शैली को नवीन भंगिमाओं से संयुक्त करके अधिक व्यंजक, प्रभावशाली तथा आधुनिक बनाने का यत्न किया है। ए. पी. राजू तथा सुधीर सोजवाल आदि के नाम भी उल्लेखनीय हैं। यामिनी राय की शैली के अनुयायियों में बहुत से ऐसे भी हैं जिन्होंने उसे समृद्ध एवं विकसित करने के नाम पर हीनतर एवं प्रेरणाहीन अनुकरणमूलक बना दिया है। इस अनुयायी वर्ग को 'नियो प्रिमिटिव' कहा जाता है परन्तु जैसा संकेत किया जा चुका है पट-चित्रों की शैली 'प्रिमिटिव' अथवा 'आदिम' कला का उदाहरण नहीं प्रस्तुत करती। कहा जा सकता है कि यह अनुपयुक्त है।

इसी ४ मई के 'टाइम्स लिटरेरी सप्लीमेंट' में आर्चर बन्धुओं की लिखी हुई 'इंडियन पेंटिंग फ़ार दि ब्रिटिश' नामक पुस्तक की समीक्षा देखने में आयी। इस पुस्तक के लेखकों का मत है कि यदि १९वीं शती के योरोपियन पदाधिकारियों ने उत्तर-मुग़ल-कालीन राज-वैभव प्रदर्शन करने वाली चित्र-परम्परा से अपनी दृष्टि हटा कर साधारण जन-जीवन से सम्बद्ध चित्रों की ओर रुचि न प्रकट की होती, तो यामिनी राय और अमृता शेरगिल की कृतियों से व्यक्त होने वाली जन-साधारण एवं श्रमिक-वर्ग के प्रति सहानुभूति की भावना ही आधुनिक भारतीय चित्रकला में न आती। यह कथन कुछ वैसा ही है, जैसे यह कहना कि यदि अंग्रेज़ लोग भारत में न आये होते, तो भारत को स्वतन्त्रता ही न मिलती। ऐसी बातें ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यहीन और भ्रामक कही जायेंगी, क्योंकि इनमें मूल मनोवृत्ति की उपेक्षा करके केवल परस्पर असम्बद्ध वस्तुओं में वस्तुगत कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने की कुटिलतापूर्ण चेष्टा निहित रहती है। यों भारतीय कला और साहित्य के समुद्धार का श्रेय अनेक क्षेत्रों में बहुत से पाश्चात्य विद्वानों को प्राप्त है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि इन दिशाओं में भारतीय कृतित्व सर्वथा नगण्य रहा है। इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि अंग्रेज़ों की दृष्टि में भारतीय जन-जीवन के प्रति स्नेह और करुणा का भाव न होकर उपेक्षा और हीनता का भाव ही प्रायः विद्यमान रहा है। आर्चर बन्धुओं की उक्त धारणा भी इसी का उदाहरण है। ग्रियर्सन, केनेडी, वेबर आदि ने सम्पूर्ण भक्ति-आन्दोलन को ईसाइयत की देन कहा, परन्तु वे भी मूल तथ्य को मिटाने में समर्थ न हो सके। संतोष का विषय है कि 'टाइम्स' के समीक्षक ने ही इस निष्कर्ष को असिद्ध और असंगत घोषित कर दिया है—न सही बलपूर्वक, दबी ज़ुबान से ही सही।

जिस आत्मीयता और रागात्मक प्रगाढ़ता से यामिनी राय तथा अमृता शेरगिल ने भारतीय लोक-जीवन का चित्रण किया, वह विदेशियों के रचे संस्कारों से कभी उत्पन्न नहीं हो सकती थी। वह उन्हीं के द्वारा उपजती है, जिन्होंने यहाँ के जीवन के प्रति आत्म और पर के भेद का विलय करके एक मनोगत समत्व की स्थिति प्राप्त कर ली हो। यामिनी राय तथा उनकी शैली के अनुगामी कलाकारों की चर्चा यहाँ की जा चुकी है, इसमें अमृता शेरगिल (सन् १९१३-१९४०) और उनकी धारा के कलाकारों के कृतित्व पर संक्षेप में दृष्टिपात कर लेना उचित होगा, क्योंकि उन्होंने लोक-शैली का पुनरुद्धार करके लोक-जीवन को अपनी संवेदना प्रदान की, और उसे सफलता

पूर्वक मूर्त किया ।

कतिपय कला-समीक्षकों की धारणा है कि भारतीय चित्रकला के आधुनिक युग का श्रीगणेश, वस्तुतः, अमृता शेरगिल के कृतित्व से ही होता है। यह बात तो सर्वमान्य है कि जिस परिमाण में पाश्चात्य शिक्षा और शैली का भारतीय भावना एवं परिवेश से समीकरण शेरगिल ने किया है, उतना अब तक किसी अन्य कलाकार की कृतियों में उपलब्ध नहीं होता। जयपुर हाउस, दिल्ली में, 'राष्ट्रीय आधुनिक कला-वीथि ' के अन्तर्गत शेरगिल के शताधिक चित्रों का सर्व-सुलभ संग्रह प्रस्तुत करके भारत-सरकार द्वारा वास्तव में एक सराहनीय कार्य किया गया है। किन्तु अभी यह संग्रह पूर्ण है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। मैं ऐसे व्यक्तियों को जानता हूँ, जिनके पास अमृता शेरगिल के महत्त्वपूर्ण चित्र रक्षित हैं। इस कला-वीथि में जाने पर जहाँ सौन्दर्यपूर्ण जीवन्त चित्रों के बीच अपने को पाकर गौरव का अनुभव होता है, वहाँ 'मैन्डिकैण्ट' का अनुवाद 'वैद्यराज' या ऐसा ही और अद्भुत अनुवाद कौशल देखकर लज्जा से सर झुक भी जाता है। शायद इधर कुछ सुधार किया गया है । सजग दर्शक के हृदय पर शेरगिल की चित्रकला एक निश्चित दिशा में अपना प्रभाव अनिवार्य रूप से उत्पन्न करती है। परन्तु उसके सम्बन्ध में सबसे बड़ी समस्या यही रही है कि आखिर वह कौन सी प्रेरणा अथवा शक्ति थी, जिसने शेरगिल को विदेशी शिक्षा, पेरिस में प्राप्त विविध सम्मानों, तथा वर्षों तक योरोपीय जीवन और हंगेरियन माता से प्राप्त संस्कारों से बलात् तोड़कर भारतीय जन-जीवन की करुण-संवेदना से जोड़ दिया। विदेशी शैली और रंगों को शेरगिल ने नहीं छोड़ा, पर उनके शरीर में एक ऐसी नयी आतमा की प्रतिष्ठा कर दी, कि सब कुछ एकान्त भारतीय हो उठा। यह सब परिणति अनजाने ही घटित नहीं हो गयी। स्वयं अमृता ने अपने शब्दों में स्वीकार किया है कि "यहाँ की हरी-भरी धरती पर चलते-फिरते काले उदास चेहरों वाले क्षीण पुरुषों और संकोचशील मंद-प्रभ स्त्रियों का अस्तित्व एक ऐसी धूमिल छाया मात्र है, जिस पर मानों अकथनीय करुणा का भार हो।" मुझे प्रतीत होता है कि शेरगिल के स्वप्नशील भावुक व्यक्तित्व ने योरोप में आरम्भिक जीवन बिता कर अपने देश के सम्बन्ध में जिस कल्पनामय भाव-चित्र का अपने मनोजगत् में निर्माण कर रखा था, वह स्वदेश लौटने पर यहाँ की कठोर वास्तविकता से टकरा कर चूर-चूर हो गया। योरोप के वैभवपूर्ण विलासमय जीवन की तुलना ने इस स्वप्नभंग को और भी कटु एवं मार्मिक बना दिया। किन्तु यह भी सहज संवेदनीय तथा

करुणामय न हो पाता, यदि मूलतः हृदय में देश के प्रति अतल प्रगाढ़ प्रेम न होता। यही प्रतिक्रिया घृणा और उपेक्षा में परिणत हो सकती थी; परन्तु इस प्रगाढ़ प्रेम ने ही उसे कृतिकार की गहन अन्तर्वेदना से संयुक्त कर दिया। मेरी दृष्टि में अमृता शेरगिल के चित्र इसी भाव-प्रक्रिया के प्रतिफलन हैं। जैसा कहा जा चुका है, उनकी सबसे बड़ी विशेषता सहज करुण भाव है, जो विजड़ित आकृतियों और बड़ी पुतलियों वाली आंखों से सदा प्रकट होता रहता है। मानवीय संवेदना ही ऐसा तत्त्व है, जो किसी कलाकृति को महानता प्रदान करता है। शैली और कौशल का अनुकरण तो किया जा सकता है, परन्तु प्रगाढ़ संवेदनीयता कृत्रिम रूप से उत्पन्न नहीं की जा सकती। जिस प्रकार प्रेमचन्द की शैली और वस्तु को लेकर बीसों कथाकारों ने साहित्य रचा, परन्तु वे प्रेमचन्द न बन सके, इसी तरह हेब्बर, चावडा, प्रेमजा चौधरी, सुधीर सोजवाल, ए० ए० रैबा, के० एस० कुलकर्णी आदि अनेक चित्रकार हैं, जिन्होंने जन-जीवन को अपनी चित्रकला का विषय बनाया, किन्तु इसी एक तत्त्व के आपेक्षिक अभाव में वे अमृता शेरगिल के समकक्ष नहीं पहुँच सके, यद्यपि उनके कृतित्व को उपेक्षित नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ क्षेत्रों में उससे शेरगिल की परम्परा को समुचित विकास भी मिला है।

अमृता शेरगिल के चित्रों के शैली-पक्ष पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि उन्होंने फ्रान्सीसी संस्कारों को आत्मसात् करके भी उस असंतुलित असम्बद्धता (कन्फ़्यूज़न) को कहीं भी स्थान नहीं दिया है, जो अनेक फ्रेंच चित्रकारों की कला का प्रमुख गुण रही है। शेरगिल के चित्रों में आवयविक संगठन की कुशलता के साथ रेखाओं की अनलंकृत सहज शक्ति मिलती है, जिसकी प्रतिष्ठा भारतीय चित्रकला में सदा ही रही है। उनका वर्ण-विन्यास जिस सूक्ष्म वर्ण-चेतना से युक्त मिलता है, उसके आधार पर यदि उन्हें 'कलरिस्ट' या वर्णकुशल कहा जाय तो यथार्थ ही होगा।

शेरगिल की शैली को विशिष्टता प्रदान करने में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण योग हेब्बर और चावडा का ही प्रतीत होता है, परन्तु उन्होंने शेरगिल की सहज रेखा-प्रकृति को त्याग कर उसमें आधुनिक 'अलंकृति' का समावेश भी कर दिया है, जो कला की अपेक्षा कौशल की ही अधिक परिचायक है। कहा जाता है कि शेरगिल और हेब्बर, दोनों ने ही प्रसिद्ध फ्रेंच चित्रकार 'गोगाँ' (सन १८४८-१९०३) को अपना आदर्श माना है और उसका प्रभाव भी ग्रहण किया है। साम्य सदा ही प्रभाव का द्योतक नहीं होता; फिर भी यह बात है विचारणीय।

अमृता शेरगिल के चित्रों से आधुनिक भारतीय चित्रकला की लोकोन्मुखी धारा के जिस महत्त्वपूर्ण अंश का आरम्भ होता है और उसको इस धारा के अन्य परवर्ती चित्रकारों द्वारा जो समृद्धि प्राप्त हुई, उसका विश्लेषण-विवेचन, यहाँ न सम्भव है, न अभीष्ट ही। केवल इस बात का संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा कि इस धारा की सम्भावनाएँ अनन्त हैं और इसका वेग भी अभी मन्द नहीं हुआ है।

आधुनिक भारतीय चित्रकला का राष्ट्रीय प्रदर्शन

आधुनिक भारतीय कला-चेतना के विकास में पहली महत्त्वपूर्ण तिथि वह थी, जब सन् १८५४ में 'इंडस्ट्रियल आर्ट सोसाइटी' के द्वारा 'कलकत्ता आर्ट स्कूल' की स्थापना हुई, जिसकी परिणति आगे चलकर लार्ड कर्ज़न, ई० बी० हेवेल तथा अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की सम्प्रेरणा से निर्मित 'इंडियन सोसाइटी ऑव ओरियंटल आर्ट' के रूप में हुई और उसके बाद सौ वर्ष के अन्तर से दूसरी महत्त्वपूर्ण तिथि सिद्ध हुई १९५४, जब सांस्कृतिक नवजागरण की द्योतक साहित्य, संगीत-नाटक आदि से सम्बद्ध अन्य दो अकादमियों के साथ-साथ ललित कला अकादमी का आविर्भाव हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में अनेकमुखी सांस्कृतिक समृद्धि को उपलब्ध करने का यह शुभ संकल्प स्वाभाविक और अभिनंदनीय है। इस ललित कला अकादमी की ओर से भारतीय शिल्प-साधन एवं कला-चेतना को विकसित करने की दिशा में जो प्रयत्न किये गये, उनमें सर्व प्रमुख हैं राष्ट्रीय कला प्रदर्शन के वार्षिक आयोजन। अब तक ललित कला अकादमी के तत्त्वाधान में अनेक राष्ट्रीय कला प्रदर्शनियाँ दिल्ली में आयोजित की जा चुकी हैं, जिनमें से प्रारंभिक दो प्रदर्शनियों के महत्त्व पर यहाँ दृष्टिपात् किया गया है। दोनों प्रदर्शनियों में जो भी कला सामग्री प्रदर्शित की गयी, उसमें चित्रों का इतना बाहुल्य रहा है कि इन्हें सरलता से भारतीय चित्रकला का राष्ट्रीय प्रदर्शन कहा जा सकता है। प्रथम प्रदर्शनी में १२०० कला-कृतियाँ उपलब्ध हुई, जिनमें से २८० चुनी गयीं और द्वितीय में कलाकारों की ओर से ६५० कृतियाँ भेजी गयीं, जिनमें से प्रदर्शन के लिए केवल १७१ का चयन किया गया। उचित तो यह था कि द्वितीय बार कलाकारों का अधिक व्यापक सहयोग मिला होता और अधिक कला-कृतियाँ उपलब्ध हुई होतीं, परन्तु वैसा हुआ नहीं, जिसके अनेक कारण हो सकते हैं। चयन की दृष्टि से

निश्चय ही द्वितीय प्रदर्शनी उत्कृष्टतर कही जा सकती है। प्रदर्शित चित्रों की संख्या सीमित रखना श्रेयस्कर सिद्ध हुआ ।

सौन्दर्य बोध का स्तर ऊँचा रखने के लिए तथा उचित मूल्यांकन की वृत्ति को जागरित करने की दृष्टि से इस प्रकार के नियंत्रण की नीति आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी होती है। दोनों बार चयन एवं निर्णय का कार्य दो भिन्न निर्णायक समितियों ने किया। इन समितियों के संगठन को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर एक महत्त्वपूर्ण तथ्य सामने आता है और वह यह कि जहाँ पहली समिति चित्रकारों को छोड़ कर केवल गण्यमान्य कलामर्मज्ञों को लेकर निर्मित हुई थी, वहाँ दूसरी समिति में बहुमत चित्रकारों का हो गया । अकादमी के चेयरमैन श्री देवीप्रसाद राय चौधरी सुप्रसिद्ध कलाकार हैं ही, उसके मंत्री वरदा उकील भी ख्यातिप्राप्त चित्रकार हैं। इन गौरवपूर्ण पदों पर कलाकारों को प्रतिष्ठित देखकर कुछ संतोष की भावना उत्पन्न हो सकती है किन्तु जब इस स्थिति से भारतवर्ष में उच्च कोटि के कला-मर्मज्ञों के अभाव का आभास मिलने लगे तो यह परिस्थिति संतोषप्रद नहीं कही जा सकती, कला सम्बन्धी मूल्यांकन और निर्णयन का भार भी कलाकारों के कंधों पर आ जाना सैद्धान्तिक रूप में न बहुत उचित है और न व्यावहारिक रूप में बहुत श्रेयस्कर।

प्रदर्शित कलाकृतियों की वाह्य रूपरेखा और आन्तरिक प्रकृति दोनों को विचार पूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो गया कि भारतीय चित्रकला, ठाकुर-शैली का उत्कर्ष काल बीत जाने के बाद उत्पन्न हुई संक्रान्तिकालीन संघर्षमयी स्थिति से उबर कर एक नये धरातल पर प्रतिष्ठित होने जा रही है—ऐसे धरातल पर, जहाँ पाश्चात्य और पौर्वात्य शैलियों के विभेद पर उतना बल नहीं होगा, जितना दोनों के स्वस्थ समन्वयात्मक संतुलन पर, साथ ही शैलीगत विभिन्नताओं से अधिक महत्त्वपूर्ण होगा प्रभावपूर्ण शक्तिशाली कलाकृतियों का निर्माण। भावी चित्रकला जीवन्त तत्त्वों को प्राप्त करने के लिए प्राचीन पौराणिक वातावरण में प्रवेश करने के स्थान पर लोक जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध स्थापित करेगी । भारतीय कला को शास्त्रीयता ने भले ही मर्यादित किये रक्खा हो परन्तु उसने अपनी प्राण-शक्ति किसी न किसी रूप में सदा ही लोक-जीवन से उपलब्ध की है । परम्परा की रक्षा के नाम पर प्राचीनों का अनुकरण और आधुनिकता के नाम पर पाश्चात्यों की अतिशय स्पर्धा कला के क्षेत्र में यह नव जागरण उत्पन्न करने में ही सहायक हो सकते हैं अन्यथा जहाँ तक मौलिक सृजनात्मक कृतित्व का प्रश्न है, उसके लिए निश्चय ही जीवन से सीधा सम्पर्क स्थापित करना होगा

और उसकी अतल गहराइयों में प्रवेश करने की क्षमता भी अर्जित करनी होगी। लोक जीवन की प्रतिष्ठा भारतीय कला के क्षेत्र में पुनः बढ़ रही है, इसका ज्वलन्त प्रमाण यह है कि दोनों प्रदर्शनियों में जिन चित्रों को प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ, वे उसी से अनुप्रेरित होकर रचे गये हैं। दो विन्दुओं से टेढ़ी-मेढ़ी रेखाएँ तो *अनेक बनाई जा सकती हैं* पर सीधी रेखा एक ही होती है। यदि श्रेष्ठतम *राष्ट्रीय सम्मान के अधिकारी एम० एफ० हुसेन के 'ज़मीन'* और ज्योति मनशंकर भट्ट के *'कृष्णलीला' नामक* पुरस्कृत चित्रों को विन्दु मान लिया जाय और इनके आधार पर भारतीय चित्रकला के भावी रूप की कल्पना की जाय तो विकास-क्रम की रेखा और *उससे व्यंजित दिशा अवश्य ज्ञात हो जायेगी।*

प्रथम प्रदर्शनी में हुसेन के विशाल तैल चित्र 'ज़मीन' को एक सहस्र के पुरस्कार के साथ सर्वोच्च स्थान मिला अवश्य परन्तु उसे इतना श्रेष्ठ नहीं समझा गया कि अकादमी का श्रेष्ठतम सम्मान सूचक स्वर्ण फलक (गोल्ड प्लेक) प्रदान किया जाता। यह सम्मान तो द्वितीय प्रदर्शनी के पूर्वोक्त 'कृष्ण लीला' नामक टेम्परा चित्र के रचयिता ज्योति भट्ट को ही मिल सका। प्रथम प्रदर्शनी में जिन अन्य चित्रकारों को पुरस्कृत किया गया, उनमें ए० एस० बेन्द्रे, ईश्वरलाल बी० गुज्जर तथा क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार के नाम सर्वप्रमुख हैं। मजूमदार जी का नाम इसलिए महत्त्व रखता है कि वे अवनीन्द्रनाथ ठाकुर की शिष्य मंडली के एक सुविख्यात व्यक्तित्व हैं और अब तक ठाकुर-शैली में ही आस्थापूर्वक चित्र निर्माण किये जा रहे हैं। द्वितीय प्रदर्शनी के पुरस्कार प्राप्त चित्रकारों में शंखो चौधरी, सतीश गुजराल, के० के० हेब्बर तथा शान्ति दवे आदि उल्लेखनीय हैं।

सामान्य दर्शक के हृदय पर दोनों प्रदर्शनियों के चित्रों को देखने के बाद सबसे अधिक स्पष्ट प्रभाव शैलीगत विविधता का पड़ता था। किन्तु इस विविधता में प्रमुखता पाश्चात्य अभिव्यंजनावादी (एक्सप्रशनिस्टिक) शैली की ही परिलक्षित होती थी। बहुत से ऐसे दर्शक भी रहे होंगे, जिन्हें भारतीय कला में इतनी मात्रा में विदेशी तत्त्वों का समावेश अथवा उनकी प्रच्छाया देखकर निराशा एवं खेद भी हुआ होगा परन्तु किसी भी विचारवान दर्शक के लिए इन राष्ट्रीय चित्रकला-प्रदर्शनियों के भीतर से झाँकती हुई विकासोन्मुखी सृजन-शक्ति की सक्रिय चेतना को पहचान लेना कठिन नहीं था। यद्यपि राजकीय प्रभाव और वातावरण में जो सम्मान कलाकारों को मिलता है, मात्र उसी को प्रेरक मान लेने से प्रतिभा के कुंठित होने की आशंका बनी रहती है परन्तु आज जब अनेक कारणों से कला-

कारों के लिए कला-चेतना को जीवित रखना भी दूभर हो रहा है, ललित कला अकादमी द्वारा आयोजित प्रदर्शनों से कल्याण और नव चेतना के संचार की ही अधिक संभावना है। आवश्यकता इस बात की है कि यह प्रदर्शन अचल बनाकर केवल दिल्ली तक ही सीमित न रक्खे जाँय वरन् इन्हें भारत में आयोजित १९४७ और १९५३ की अन्तर्राष्ट्रीय चित्रकला प्रदर्शनियों की तरह सचल रूप दिया जाय और दिल्ली के अतिरिक्त बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा इलाहाबाद आदि प्रमुख नगरों तक भी उन्हें पहुँचाया जाय।[1] इसके साथ ही यदि प्रत्येक प्रदर्शनी के पुरस्कृत तथा कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण चित्रों के सर्व सुलभ संग्रह भी प्रकाशित किये जा सकें तो ललित कला अकादमी की सत्ता कला-चेतना के व्यापक विकास में अधिक उपयोगी सिद्ध हो सकेगी।

१. कलकत्ता, बम्बई आदि कुछ नगरों तक प्रदर्शनी ले जाने की व्यवस्था अब हो गयी है यह हर्ष का विषय है। आगे आशा की जा सकती है कि नगरों की यह सूची उत्तरोत्तर परिवृद्ध होती जायेगी।

तृतीय राष्ट्रीय चित्रकला प्रदर्शनी

भारतीय चित्रकला को संगठित विकास की प्रेरणा देना तथा उसके प्रदर्शन का आयोजन करना श्लाघ्य है; किन्तु भारतवर्ष जैसे विशाल देश की महानता एवं समृद्ध कला-परम्परा को दृष्टि में रखकर यदि कोई 'ललित कला अकादमी' द्वारा आयोजित वार्षिक राष्ट्रीय प्रदर्शनियों को देखे तो उसे अधिक संतोष नहीं होगा। दिल्ली के जयपुर हाउस में २३ जनवरी को राष्ट्रपति द्वारा उद्घाटित तृतीय राष्ट्रीय चित्रकला-प्रदर्शनी भी इसका अपवाद सिद्ध नहीं हुई। २९८ कलाकारों से प्राप्त ७५१ कला-कृतियों में से बड़े यत्नपूर्वक चुनकर १३९ चित्र और १६ मूर्तियाँ स्वच्छ व्यवस्था के साथ एक सुसज्जित भवन की अनेक गैलरियों में प्रदर्शित की गयीं फिर भी कुछ ही दिनों में दर्शकों का अभाव चित्रों से अधिक दर्शनीय बनने लगा—यह चिन्त्य है। जनता में कला-प्रेम कम है, दिल्ली की पब्लिक तथाकथित आधुनिक चित्रों की दुरूह और प्रषणीयताहीन भाषा से ऊब गयी है, कलाकारों में जीवन्त कला के सृजन की क्षमता घट रही है या देश की कला का वास्तविक प्रतिनिधित्व ही नहीं होता है—यह और ऐसे अन्य अनेक कारण दिये जा सकते हैं और उनमें अंशत: सत्य भी निहित हो सकता है पर क्या यही सब कारण इसके उत्तरदायी हैं? गहराई में कहीं कुछ और तो नहीं है यह सोचने की बात है। सबसे पहले ललित कला अकादमी के सभापति श्री देवीप्रसाद राय चौधरी का उद्घाटन अवसर पर दिया गया भाषण इस सम्बन्ध में ध्यान आकर्षित करता है; क्योंकि उसमें पहली बार अन्तरंग स्थिति की विषमता की ओर स्पष्ट संकेत मिलता है। सहानुभूतिपूर्वक की गयी आलोचना और सद्भावना रखनेवाले आलोचकों के प्रति आदर का भाव व्यक्त करते हुए उन्होंने एक दुष्प्रवृत्त कटु और घातक आलोचक समूह की सत्ता भी स्वीकार की है, जो पिछले दिनों इतना प्रबल रहा है कि उसके कारण इस तृतीय प्रदर्शनी का आयोजन भी उन्हें दुष्कर हो रहा था।

दुराग्रही आलोचक-दल

यह समूह कला के क्षेत्र में विशेष कुछ न होते हुए भी अपने को बहुत कुछ समझने वालों का है। सभापति के वक्तव्य के अनुसार "इस दल के कुचक्रों के शिकार वे होते हैं, जो इसके द्वारा प्रतिपादित नयी आस्था पर विश्वास न करने के कारण झुक नहीं पाते। इस दल का मुख्य प्रतिपाद्य होती है 'मौलिकता', जिसके लिए वह हर तरह से दुराग्रह करता है। ऐसा लगता है जैसे मौलिकता चाहने मात्र से आ जाती हो, मौलिकता के पीछे निहित सत्य यह है कि वह अदम्य आन्तरिक प्रेरणा से उत्पन्न होती है, जो अपने प्रवाहित होने के लिए नये मार्ग स्वयं खोज लेती है। यदि उससे कोई महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हो जाय तो उसे इच्छित प्राप्ति न समझकर आकस्मिक ही समझना चाहिए। मौलिकता का ऐसा आकस्मिक अवतरण भी, जो कृतित्व-सम्पन्न कला को समृद्धि प्रदान करता है, तभी संभव हो सकता है, जब उससे उत्कृष्ट कोटि का कौशल अर्जित कर लिया गया हो। सचेष्ट प्रयत्न से मौलिकता नहीं आती। कला के क्षेत्र में गोगाँ और सेज़ां नित्य नहीं होते अतएव वे सब, जिन्होंने कला की व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त नहीं की है, मौलिक-प्रतिभा-सम्पन्न होने का दावा नहीं कर सकते। मौलिकता के पीछे पागल होने का परिणाम अराजकता दिखायी देता है। फलतः हमारे सौन्दर्य-बोध को जो चीजें क्षुब्ध करती हैं, उन्हें क्रान्तिकारी एवं घोर मौलिक माना जाता है।" सतही तौर पर आध्यात्मिकता का नाम लेकर जो आधुनिक भारतीय चित्रकला के क्षेत्र में पाये जानेवाली अराजकता अर्थात् 'केआस' और 'कन्फ्यूज़न' की चर्चा को ही 'कन्फ्यूज़न' कहने के लिय तत्पर दिखायी देते हैं और असहमत होने को ही अपना धर्म समझते हैं, उन्हें उक्त ववतव्य के प्रकाश में अपनी धारणा पर पुर्नविचार करना चाहिए।

मौलिकता की समस्या

श्री राय चौधरी के द्वारा मौलिकता की जो समस्या उठायी गयी है, वह वास्तव में आधुनिक कला की एक बहुत बड़ी समस्या है और कलाकृतियों के आन्तरिक मूल्यांकन से सम्बन्ध रखती है। किसी कलाकृति की श्रेष्ठता का निर्णय किस आधार पर होना चाहिए ? प्रतिभा या सूझ की मौलिकता से या विधिपूर्वक अर्जित शिल्प-कौशल के आधार पर ? दोनों पक्षों में प्रबल तर्क दिये जा सकते हैं, पर अराजकता का कोई समर्थन नहीं करेगा। प्राचीन शास्त्रकारों ने दूसरे रूप में समाधान किया था—

रेखां संशंत्याचार्याः वर्तनां च विचक्षणाः।
स्त्रियो भूषणमिच्छन्ति वर्णाढ्यमितरे जनाः ॥

अर्थात् रेखाओं की प्रशंसा आचार्यगण करते हैं, शैली की सराहना चतुर पारखी करते हैं, स्त्रियों को अलंकरण प्रिय होता है तथा सामान्य लोग चटक रंगों से संतुष्ट होते हैं। इस सूक्ति का उद्देश्य वस्तुतः दर्शकों का वर्गीकरण प्रतीत होता है, परन्तु प्रकारान्तर से इसमें चित्रों के विभिन्न तत्त्वों--रेखा, शैली, शिल्प और वर्ण-विन्यास--का भी अनुक्रम उनके सापेक्षिक महत्व के साथ निर्धारित कर दिया गया है, जो चित्रों के मूल्यांकन में कुछ सहायक हो सकता है; यद्यपि किसी भी चित्र में स्थित विभिन्न तत्त्वों को सर्वथा पृथक् करके देखना संभव नहीं होता। जहाँ तक मौलिकता का प्रश्न है, उसका उत्तर इससे नहीं मिलता। काव्य के क्षेत्र में अवश्य मध्यकालीन आचार्यो ने सामान्यतया 'शक्ति', 'निपुणता' और 'शिक्षा' तीनों की आवश्यकता बताई है। राजशेखर ने शिक्षा से अधिक प्रतिभा को महत्व दिया, क्षेमेन्द्र और मम्मट ने समन्वय का दृष्टिकोण अपनाया ; विदेशी मनीषियों ने भी पर्याप्त विचार किया है। प्रतिभा की महत्ता से इन्कार कोई भी नहीं कर सकता।

आधुनिक चित्रकला प्राचीन रूढ़िवादी विचारों और शास्त्रीय नियमों एवं वर्जनाओं को तोड़कर आगे बढ़ी है। उसका मूल शक्ति-स्रोत भी प्रायः वही रहा है। शास्त्रीय मर्यादाओं को टूटते देखकर एक व्यवस्थित शिक्षा प्राप्त और स्वयं शिक्षक कलाकार की प्रतिक्रिया लगभग वैसी ही होगी, जैसी श्री राय चौधरी के शब्दों से व्यक्त होती है।

आवश्यकता इस बात की है कि वास्तविक प्रतिभा और कृत्रिम रूप से आरोपित प्रतिभा के बीच विवेकपूर्ण अन्तर स्थापित किया जाय। मौलिकता को नितान्त अव्यावहारिक मूल्य समझ कर न तो विगतयुग की शास्त्रीय कला-शिक्षण-पद्धति का ज्यों का त्यों आरोप किया जा सकता है और न मौलिकता के नाम पर 'केआस' और 'कन्फ़्यूज़न' को ही पचाया जा सकता है।

निर्णय विवेक-संगत हो

इस बार की राष्ट्रीय प्रदर्शनी में श्री विद्याभूषण के 'ए स्ट्रीट इन वेनिस' (वेनिस की सड़क) शीर्षक चित्र को सर्वश्रेष्ठ घोषित किया गया और उसे उच्चतम सम्मान का प्रतीक स्वर्णफलक (गोल्ड प्लेक) भी प्रदान किया गया। चित्र प्रभावशाली है, पर क्या वही इतना श्रेष्ठ था कि इतने बड़े सम्मान का

अधिकारी होता—यह जिज्ञासा एक सजग दर्शक को प्रायः अनभिभूत छोड़ जाती है। सभापति के पूर्वोक्त वक्तव्य में जिस प्रकार के विरोध की चर्चा मिलती है, उसकी स्थिति कदाचित निर्णायक समिति में भी थी, जिसके फलस्वरूप उक्त चित्र को 'स्वर्ण फलक' प्रदान करने का निर्णय सर्वसम्मति से न होकर सभापति के विशेषाधिकार से हुआ। यह स्थिति भी चिंत्य है, क्योंकि इतना महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय सम्मान सबकी सहमति से हो, यही वांच्छित है। ज्ञात हुआ है कि आगे ऐसा निर्णय सर्वसम्मति से ही हुआ करेगा, इसका निश्चय हो गया है। भारत के विचारवान् कलाप्रेमियों के लिए यह संतोष का विषय है। एक-एक सहस्र के अन्य दस पुरस्कार जिन चित्रकारों को मिले, उनमें से के. के. हेब्बर सुपरिचित हैं। उनकी कृति 'सांग ऑफ दि फ़ील्ड' (धन-खेतों का गीत) में रेखाओं का कुशल विन्यास विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सतीश गुजराल का चित्र 'दि कन्डेम्ड' (तिरस्कृता) उनकी मैक्सिकन प्रभाव से युक्त सशक्त शैली का महत्त्वपूर्ण उदाहरण कहा जा सकता है। उनके भावात्मक चित्रों में इस शैली की सफलता असंदिग्ध है, परन्तु व्यक्ति-चित्रों (पोर्ट्रेट्स) में वह आरोपित जैसी लगने लगती है। गुजराल का अपना और नेहरू जी का जो चित्र वहाँ प्रदर्शित था, वह अनुकूल प्रभाव न डाल सका। वी. परमार खोडीदास नामक चित्रकार का चित्र, जिसमें सौराष्ट्र के ग्राम में विवाह का दृश्य अंकित था, टेम्परा शैली की अंकन कुशलता का श्रेष्ठ परिचायक था। लोक-जीवन का सूक्ष्म अध्ययन गुजराती कलाकारों की विशेषता प्रतीत होती है। शान्ति दवे का 'लाइफ' (जीवन) शीर्षक चित्र आधुनिक शैली में लोक-जीवन की एक झांकी प्रस्तुत करता है। जेरम पटेल की 'रसिकप्रिया' नामक कृति में मुगल राजस्थानी शैली का सा सुनिश्चित रेखांकन और अपूर्ण छायाकृतियों के द्वारा प्रणय की पूर्व स्थितियों का प्रतीकात्मक संकेत सराहनीय है। शान्तनराज के तैलचित्र 'थ्रू दि फ़ारेस्ट' (वनान्तर) में रंगों का मुक्तहस्त प्रयोग है और वर्णाढ्यता भी; परन्तु कुल मिलाकर चित्र एक सम्पन्न कृति के रूप में अनुकूल प्रभाव उत्पन्न करता है। संतोष के 'पीस' (शान्ति) नामक प्रतीकात्मक चित्र में रंग-रेखा की सादगी अपेक्षित प्रभाव के अतिरिक्त अलग से ध्यान आकृष्ट करती है।

अपुरस्कृत चित्रों में कुछ चित्र ऐसे थे, जो कुछ पुरस्कृत चित्रों से अधिक कलात्मक और जीवन्त प्रतीत हुए। ऐसे चित्रों में प्रद्युम्न ताना का 'ब्लैक गोल्ड' जिसमें महिषीदल का स्वाभाविक एवं सशक्त अंकन है तथा परितोष सेन का 'पेवॅमेन्ट बारबर', जिसमें पिकासो शैली में निर्मित नाई और उसके दो गाहकों

का मनोरंजक आलेखन है, विशेष उल्लेखनीय है। इतने चुनाव के बाद भी बहुत सी अपरिपक्व और एकरस निर्जीव कृतियाँ वहाँ देखकर यह लगा कि जैसे आधुनिक भारतीय कला का व्यापक एवं सम्यक् प्रतिनिधित्व अभी ठीक ढंग से नहीं हो पा रहा है। दृश्य-चित्रों और व्यक्तिगत चित्रों (लैण्डस्केप और पोर्ट्रेट) को स्वतन्त्र रूप से मान्यता मिलनी चाहिए। सभी पुरस्कार सामान्य न रख कर कुछ शैलियों और कला-रूपों के लिए 'विशेष' कर दिये जाँय तो अधिक हितकर हो।[1]

१. सन् १९५९ की चित्र प्रदर्शनी का निर्णय 'माडर्न', 'एकेडिमिक' तथा 'ओरियन्टल' इन तीन वर्गों में चित्रों को विभाजित करके दिया गया परन्तु १९६० में चित्र और मूर्ति के दो स्थूल वर्ग ही स्वीकार किये गये और १९६१ में उन्हें भी एक करके अकादमी 'पुनर्मूषकोभव' की स्थिति में आ गयी।

लक—६, चित्र—१.

गुजराती चित्रकार ज्योति भट्ट द्वारा निर्मित लोक-शैली का अप्रतिम चित्र 'कृष्णलीला' जिस पर ललित कला अकादमी की ओर से द्वितीय राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी (१९५६) में सर्वोच्च पुरस्कार 'सुवर्णफलक' प्रदान किया गया।

आधुनिक भारतीय चित्रकारों में सर्वाधिक ख्याति-प्राप्त चित्रकार एम० एफ० हुसैन का 'जमीन' शीर्षक तैलचित्र जो ललित कला अकादमी द्वारा प्रथम राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी (१९५५) में सर्वोच्च पुरस्कार 'सुवर्णफलक' देकर सम्मानित किया गया।

बड़ौदा विश्वविद्यालय के ललित कला विभाग के अध्यक्ष एन० एस० बेन्द्रे द्वारा विनिर्मित 'कंटक' शीर्षक भावपूर्ण सशक्त तैलचित्र जो प्रथम राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी (१९५५) में पुरस्कृत हुआ था और अब ललित कला अकादमी के संग्रहालय में प्रदर्शित है।

फलक—८, चित्र—२.

द्वितीय राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी में पुरस्कृत सतीश गुजराल का तैलचित्र 'निराशा' जिसकी शक्ति के पीछे 'मैक्सिकन' शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

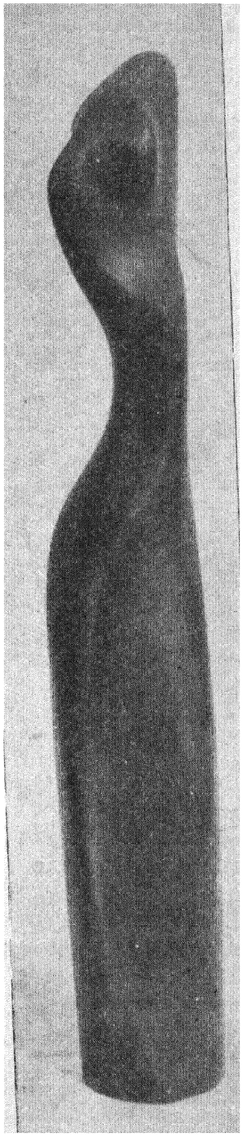

द्वितीय राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी (१९५६) में पुरस्कृत शंखो चौधरी की एक काष्ठ-मर्ति।

महादेवी की प्रतिभा में कविता और चित्रकला का समन्वय

यदि यह कहा जाय कि कविता एक मुखर चित्र है और चित्र एक मूक कविता तो यह कथन भ्रमात्मक होगा और कुछ दूर तक असत्य भी। व्यक्त होने से पहले की स्थिति में दोनों एक दूसरे के भले ही अत्यन्त समीप हों, परन्तु व्यक्त होने के बाद की दशा में दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व हमें मानना ही होगा। यों तो तत्त्वतः सभी वस्तुएँ एक हैं, किन्तु इतना मान कर हम व्यावहारिकता की समस्याओं का समाधान न कर सकेंगे। चित्र की उद्भावना, उसका विकास और अंकन का अपना एक स्वरूप है और कविता की अनुभूति, घनत्व और लेखन का दूसरा। जगत का आधार नाम-रूपात्मक है। ललित कलाएँ भी इसी सत्य के कारण दो विभागों में विभाजित हो जाती हैं। एक ओर हैं अर्थहीन और सार्थ ध्वनि-समूहों पर आधारित संगीत और काव्य तथा दूसरी ओर रूप पर आश्रित वस्तु, स्थापत्य और चित्र। प्रथम दो का सम्बन्ध श्रवणेन्द्रिय से है और अन्तिम तीन का दृगिन्द्रिय से। माध्यम की सूक्ष्मता-स्थूलता के आधार पर इनकी श्रेष्ठता की माप साधारणतया सभी ने की है। इस विवेचन से केवल इतना ही निष्कर्ष निकलता है कि कविता और चित्र दो विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों के विषय होते हुए भी माध्यम की दृष्टि से अन्य ललित कलाओं की अपेक्षा एक दूसरे के अधिक समीप हैं। परन्तु इसके साथ यह भी सत्य है कि जब दो वस्तुएं अधिक समीप होती हैं तभी हम उनके भेद को अधिक स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।

चित्र और कविता

जहाँ तक सीमाओं का प्रश्न है, चित्र तथा कविता की स्वतंत्र सीमाएँ आपस

में भिन्न अधिक हैं, समान कम और यह भिन्नता की अधिकता ही उन्हें एक दूसरे का सफल पूरक बनाने का मुख्य कारण है। जो वस्तु हम कविता में नहीं दे पाते; उसे व्यक्त करने के लिये चित्र के माध्यम की आवश्यकता होती है और जो वस्तु हम चित्र में नहीं दे पाते, उसकी पूर्ति पर्याप्त मात्रा में कविता से हो जाती है। चित्र की अपनी सीमाएँ हैं और कविता की अपनी। एक की स्थिति समय में है और दूसरे की विस्तार में। चित्र में जैसे जीवन की सम्पूर्णता एक स्थान पर तराश दी जाती है, और कविता में जैसे उसे शब्दों में कसकर बाँध दिया जाता है। चित्र समय की गति को रोक कर एक क्षण को जीवन-दान देता है। कविता स्थिर हुई स्मृतियों को गति देकर अनेक क्षणों की अनुभूति को एक साथ गूँथ देती है। चित्र में जो कुछ होता है, सब स्थिर होता है और कविता में जो भी होता है, सब गतिशील। चंचल होते ही चित्र नष्ट हो जाता है और स्थिर होते ही कविता। चित्र भूत-भविष्य की स्थिति की ओर संकेत मात्र करके रह जाता है परन्तु कविता उन्हें पूर्ण रूप में सहेज कर ही चल पाती है। देह पर पड़ा हुआ आवरण चित्र में वस्तुतः आवरण है, परन्तु कविता में कोई भी आवरण आवरण नहीं है, क्योंकि कवि की कल्पना को सभी का साक्ष्य है। कविता मनोभावनाओं को शब्दों में रख देती है, परन्तु एक चित्रकार के लिये उनकी रंग-रेखाओं में परिणति अनिवार्य है और यह असम्भव है कि हर अनुभूति और हर वस्तु रंग-रेखा का रूप रख ही ले। कोई भी काव्यात्मक वर्णन हमें चित्र की अनुभूति नहीं दे सकता और कोई भी चित्रात्मक भाव हमें कविता के रूप में नहीं प्राप्त हो सकता। जैसे कविता रंगों का नाम लेकर रंगों का आनयन नहीं करा सकती, उसी प्रकार सुरभि इत्यादि अदृश्य पदार्थों की सफल अनुभूति एक चित्र नहीं करा सकता। जब कविता वर्णन की ओर झुकती है तो वह अपनी सीमाओं के बाहर जाती है। जब चित्र कविता की ओर झुकता है तो वह भी अपनी सीमाओं को पीछे छोड़ जाता है। परन्तु एक अन्तर स्पष्ट है। कविता चित्र की ओर अधिक आने से गिर जाती है, परन्तु चित्र कविता की ओर बढ़ने से उठ जाता है। सदा ही ऐसा हो, यह सम्भव नहीं है, क्योंकि सीमाओं का उल्लंघन करने पर खतरा बढ़ ही जाता है। अधिक काव्यमय बनाने के आग्रह से कभी-कभी चित्र बुरी तरह नष्ट भी हो जाते हैं।

सफलता की कसौटी

कविता से हट कर एक चित्र सफल है या असफल, इसकी कसौटी क्या है, यह प्रश्न भी यहाँ सुलझ जाय तो अच्छा हो। सफलता किसमें है ? चित्रकार की

अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति में या उनके द्वारा दर्शक पर पड़ने वाले प्रभाव में ? कोई यह भी कह सकता है कि दर्शक पर पड़ने वाला प्रभाव ही तो चित्रकार की भावनाओं की अभिव्यक्ति की सफलता की कसौटी है । परन्तु दर्शक अनेक हैं और चित्रकार एक । बहुमत लेने पर अनर्थ ही होने की अधिक सम्भावना है । इस प्रकार सफलता-असफलता का प्रश्न जटिल ही होता जाता है । जिन लोगों ने दार्शनिक दृष्टि से इस पर विचार किया है, उनके मत से भी कई कसौटियाँ प्राप्त होती हैं । एक मत यह है कि चित्र का प्रत्येक अंश स्वतंत्र रूप से पूर्ण हो और साथ-साथ सारे चित्र की पूर्णता सहयोगी हो । दूसरा विचार यह है कि चित्रकार वस्तुतः किसी वस्तु का यथावत् चित्रण नहीं करता, वरन् वह अपनी कल्पना में स्थित उसके स्वरूप का ही चित्रण करता है । उसकी कल्पना विश्वात्मा की महान् तथा पूर्णतम कल्पना का अंश मात्र है और दृश्य जगत की सभी वस्तुओं का एक आदर्श रूप विश्वात्मा की कल्पना में स्थित है । जब चित्रकार साधारण दृश्य जगत की वस्तु को उसके यथार्थ रूप से उठाकर एक आदर्श सामंजस्य की स्थिति में ला देता है तो वह एक सफल चित्रकार है । विश्वात्मा की कल्पना हम नहीं पा सकते, परन्तु चित्र के द्वारा उपस्थित की गई सामंजस्य की स्थिति का अनुभव ही इसका प्रमाण है । तब एक चित्र की तीन अवस्थाएँ हो जाती हैं—(१) अनुकृति, (२) विकृति, (३) परिष्कृति । अनुकृति हमें आश्चर्य-चकित कर सकती है, परन्तु कला-जगत में इसके आगे उसका कोई मूल्य नहीं है । विकृति स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों ही प्रकार के कारणों से उत्पन्न हो सकती है । किसी भी चित्र में विकृति आ जाने से उसका कलात्मक मूल्य घट जाता है, केवल परिष्कृति से ही चित्रकार का सम्बन्ध है । अनुकृति का निर्णय तो आँख कर सकती है, परन्तु विकृति अथवा परिष्कृति का निर्णय सहृदय ही कर सकता है ।

इसके उपरान्त यह भी अत्यन्त आवश्यक है कि चित्र में रहने वाले तत्त्वों का विश्लेषण कर लिया जाय । साधारण रूप में हम कह सकते है कि छाया-आलोक, दृश्य-विधान, रेखाएँ, और रंग ही चित्र के प्रमुख तत्त्व हैं, परन्तु प्राचीन काल में ही इसका शास्त्रीय रूप से निरूपण भी हो चुका है । यथा—

रूपभेदाः प्रमाणानि भाव-लावण्य योजनम् ।
सादृश्य वर्णिकाभंगं इति चित्रं षडांगकम् ।।

यहाँ स्पष्ट ही चित्र के छः तत्वों का निर्देश है ।

(१) रूप-भेद, (२) प्रमाण, (३) भाव, (४) लावण्य-योजन, (५) सादृश्य (६) वर्णिकाभंग,

'रूप-भेद' से तात्पर्य है लघु-गुरु आकार का और 'प्रमाणानि' का अर्थ है दूरस्थ तथा समीपस्थ वस्तुओं की माप। अंगरेज़ी का 'पर्सपेक्टिव' शब्द इन दोनों का समुच्चय है। भाव हृदय-पक्ष है और 'लावण्य योजनम्' सौन्दर्य-पक्ष। 'सादृश्यम्' के द्वारा चित्र में समानधर्मा वस्तुओं की ओर संकेत है और 'वर्णिकाभंगम्' में रंग, रेखाएँ और उनका हलका गहरा आलेखन सभी कुछ आ जाता है।

इन तत्त्वों में से 'भाव-लावण्य योजनम्' के सहारे ही हम कविता तथा चित्र को एक भूमि पर उतार सकते हैं। भावों की अभिव्यक्ति चित्र में भी रहती है और कविता में भी और, सौन्दर्य की अपेक्षा भी दोनों को ही है। एक चित्र और एक कविता एक ही भाव लेकर रचे जा सकते है और दोनों ही स्वतंत्र रूप से सफल भी हो सकते हैं परन्तु कविता के भाव को चित्र का रूप रखने में अपना बहुत सा अंश खो देना होता है। कविता एक शृंखला है, एक माला है और चित्र शृंखला की मुख्यतम कड़ी है, माला का सुमेरु है। अनुभूति की गहन धारा में से कौन सा एक क्षण चुन ले कि सारी गहराई की व्यंजना एक साथ हो जाय? मेरी निश्चित धारणा है किसी भी कवि-चित्रकार की सब से बड़ी कुशलता पहले इसी में है कि वह उपयुक्त क्षण का चयन करे। चित्रांकन बाद की वस्तु है। रेखाओं में आकृति बाँध देने की थोड़ी भी क्षमता रखने वाले के लिये वातावरण उत्पन्न कर देने के नाम पर कविता के रूपकों के स्थूल अंश को चित्रित कर देना अधिक कठिन नहीं है, परन्तु वातावरण में भावना की सम्पूर्णता भर कर उसे आगे-पीछे की स्थिति के संकेतों से सजाकर उपस्थित कर देना सरल नहीं है। सप्राण होने पर रूपकों को आकार देना भी वरदान बन जाता है, जब कि निष्प्राण होने पर एक चित्र व्यर्थ की रंग-रूप-रेखा-राशि का अभिशाप ही बन कर रह जाता है।

'यामा' और 'दीपशिखा' महादेवी जी की कविता और चित्रकला के संधि-स्थल हैं। कविता और चित्र दोनों ही दृष्टि से 'यामा', 'दीपशिखा' की जननी है। नीहार, रश्मि, नीरजा, सांध्यगीत इन चारों यामों के बीत जाने पर स्नेह-सिक्त दीपशिखा का प्रभात तक निश्चल जलना स्वाभाविक ही है। 'दीपशिखा' में भी रात्रि के प्रथम प्रहर से ले कर अन्तिम तक चारों यामों की अवतारणा है। चित्र इसी वातावरण को अंकित करने वाले गीतों की पृष्ठभूमि बन कर आए हैं। 'यामा' का मुख-चित्र (साँस दीपक राग निःस्वन नूपुरों में हो प्रभाती) दीपशिखा में आने वाले चित्रों की भूमिका प्रस्तुत करता है। आगे चल कर, इकरंगे चित्रों पर ही गीत लिख कर 'दीपशिखा' के ५१ चित्रों का निर्माण हुआ।

दीपशिखा, का २५वां चित्र (मेघ सी घिर झर चली मैं) 'यामा' के इसी चित्र की स्मृति दिलाता है। 'यामा' के 'अरुणा' नामक चित्र का प्रभाव 'सजल है कितना सवेरा' पर स्पष्ट रूप से पड़ा है।। 'यामा' के अन्य चित्रों से भी 'दीपशिखा' के कई चित्र प्रभावित हैं। दूसरे शब्दों में इन तथ्यों को इस प्रकार रख सकते हैं कि 'यामा' का चित्रकार ही विकसित हो कर 'दीपशिखा' को चित्रित करने में तत्पर हुआ है। दोनों के बीच कोई व्यवधान नहीं है।

'दीपशिखा' का महत्त्व

महादेवी जी ने लिखा है, "दीपशिखा में मेरी कुछ ऐसी रचनाएँ संग्रहीत हैं, जिन्हें मैंने रंग-रेखा की धुँधली पृष्ठभूमि देने का प्रयास किया है। 'यामा' में चित्रकला कविता की सहयोगिनी थी पर दीपशिखा तक आते-आते पृष्ठभूमि देने के आग्रह के कारण वह उसकी अनुचरी मात्र रह गई है।" चित्रकला की दृष्टि से यह स्तुत्य नहीं है। चित्र स्वयं उठ कर कविता तक पहुँच जाय, यह एक बात है और कविता हाथ पकड़ कर चित्र को अपने तक उठाने का प्रयास करे, यह दूसरी बात। इतना होते हुए भी 'दीपशिखा' अपना एक बहुत बड़ा महत्त्व रखती है। उसके प्रभाव का रहस्य कविता और चित्रकला की अभूतपूर्व संधि में है। 'दीपशिखा' के चित्रों में रूपक-चित्रण एक प्रमुख प्रवृत्ति है और यह 'गूँजती क्यों प्राण-वंशी' से सम्बन्धित चित्र इस प्रवृत्ति का सफल उदाहरण है।

'दीपशिखा' के अनेक चित्र अपने में अत्यन्त सफल रचनाएँ हैं। कविता से अलग भी उनका महत्त्व हो सकता है। जिन चित्रों ने मुझे सब से अधिक प्रभावित किया, वे ये हैं : 'तू धूल भरा ही आया', 'चंचल जीवन-बाल मृत्यु-जननी ने अंक लगाया' (दीपशिखा, चित्र संख्या ५१) 'सब बुझे दीपक जला लूं' (दीपशिखा, चित्र संख्या ५)।

महादेवी जी पैरों तथा हाथों को अंकित करने में पर्याप्त कुशल प्रतीत होती हैं। अभिशापों और वरदानों के प्रतीक काँटों और फूलों से बँधे हुए हाथों को प्रस्तुत करता हुआ ३८वाँ चित्र इसे प्रमाणित करता है। हथेली पर रेखाओं से बना हुआ 'म' कदाचित महादेवी जी के नाम का प्रथम अक्षर ही हो। दीपशिखा के अंतिम चित्र 'अलि मैं कण-कण को जान चली' की रेखाएँ इतनी सशक्त हैं कि पूरे गीत को एक गति प्रदान कर देती हैं। सारी 'दीपशिखा' में ऐसे अनेक स्थल हैं, जहाँ केवल चरणों के या केवल हाथों के चित्रण से मनोभावों को व्यंजित करने की चेष्टा की गई है, जो अधिकांशतः बहुत सफल है।

बिजली के अंकन में आधुनिक रेडियो की रेखाओं का आभास कहीं-कहीं भारतीय शैली से बरबस दूर खींच ले जाता है। यहाँ के प्राचीन चित्रों में बिजली 'विद्युल्लता' कह कर कोणों के साथ स्थान पर वृत्त बनाती हुई अंकित की जा रही है। पर इस व्यतिक्रम से चित्र और सज गया है।

एक स्थान पर 'सुधि लौ शत झंझा में निश्चल' का चित्रण है। इस में लौ को घेरे हुए वृत्तों की अवतारणा समीप बैठी हुई नारी के शिर के ऊपर भी की गई है। सम्भवतः इस का संकेत कराने के लिए कि वह भी लौ की तरह दग्ध है। इस तरह के चित्रण काव्य के विशेष प्रभाव के कारण सदैव आ जाते हैं क्योंकि यहाँ चित्रकार अपने माध्यम में अपेक्षाकृत विवश है। सामूहिक रूप से चित्र तथा गीत दोनों मिल कर एक विचित्र प्रकार का वातावरण उपस्थित करते हैं, जिसमें कुछ आश्चर्य, कुछ रहस्य, कुछ अस्पष्टता और बहुत सी कोमलता एक स्थान पर मिल जाती है।

सारे चित्र अशीर्षक हैं। शीर्षकों के रूप में उन्हीं के ऊपर लिखी हुई कविता का एक पद्यांश सभी चित्रों पर दिया गया है। प्रतीत होता है कि कविता के इसी विशेष भाग ने चित्र के स्वरूप को निर्माण के समय निश्चित किया होगा। साधारणतया कोई भी पाठक इसे इसी रूप में लेगा। परन्तु ध्यान से पढ़ने पर कहीं-कहीं अंश का यह निर्देश भ्रम का भी कारण बन जाता है। उपस्थित की जाने वाली पंक्तियों में से अधिकांश चित्र किन्हीं एक या दो पर आधारित मिलते हैं। पूरे पद्यांश से उनका सीधा सम्बन्ध उसी प्रकार नहीं मिलता, जिस प्रकार पूरे गीत के जिन उपादानों से कविता में प्रभाव उत्पन्न हो सका है, वे चित्र में भी प्रभावशाली हो सकें, यह आवश्यक नहीं है, इसलिए चित्रण के उपयुक्त बनाने में भावनाओं को नये प्रकार से अपना शृंगार करना होता है। 'दीपशिखा' में कहीं-कहीं इस शृंगार की कमी प्रतीत होती है, जिसका कारण मुझे यही जान पड़ता है कि चित्र आवश्यकता से अधिक कविताओं के अनुगामी हो गए हैं अथवा उन्हें कलाकार के वैसे क्षणों का वरदान न मिल सका, जिनसे कविताएँ अनुप्राणित हैं।

सफल रेखा-चित्र

गीतों और चित्रों में सामंजस्य उपस्थित करने के लिए पर्याप्त ध्यान रक्खा गया है और इसका फल यह हुआ है कि लगभग सभी चित्र ऐहिकता से दूर आँसुओं के या 'चंदन-चांदनी' के देश में निर्मित हुए से जान पड़ते हैं। रेखा-चित्रों का आविर्भाव अधिकतर तभी होता है, जब हम यथार्थ वस्तु में से बहुत सा अंश

तिरोहित कर के केवल उस भावपथ को ग्रहण करते हैं, जो स्मृति के स्थिर हो जाने पर शेष रह जाता है। वास्तविक जगत में रेखा ऐसी कोई वस्तु नहीं होती । एक का अंत और दूसरे का प्रारंभ, यही वह स्थान है, जिसे हम कल्पना-प्रसूत रेखा से व्यक्त करते हैं; अतएव कभी-कभी काव्यात्मक अनुभूति को व्यक्त करने में कुछ ही रेखाओं से बने हुए चित्र अधिक सफल हो जाते हैं । जो प्रभाव अनेक रंगों के मिश्रण से भी उत्पन्न नहीं हो पाता, वह केवल दो-चार रेखाओं से ही प्राप्त हो जाता है। 'दीपशिखा' में कई रेखा-चित्र हैं, जो कविता की कोमलता को सम्हालने में निस्संदेह सफल हुए हैं ।

जहाँ तक शास्त्रीय ढंग से निरूपित तत्त्वों का प्रश्न है, 'दीपशिखा' में 'भाव-लावण्य-योजनम्' की विशेषता सब से अधिक है। 'रूप-भेद' और 'प्रमाण' से जिस वस्तु को हम ध्वनित करते हैं, 'दीपशिखा' में उसका अभाव है। चित्र इकरंगे हैं अतः 'वर्णिकाभंग' का भी स्वप्न-भंग मानना पड़ेगा । 'सादृश्य' की बात 'दीपशिखा' के चित्रों को देख कर अवश्य मन में आती है। अधिकतर इन चित्रों में वाह्य जगत तथा अन्तर्जगत का सादृश्य है, जो कविता और चित्र दोनों की संधि का प्रतिफलन है । चित्र के एक अंग की दूसरे अंग से समानता सम्भवतः हमें न मिले, परन्तु भाव और रूप का सादृश्य सर्वथा श्लाघनीय है ।

इन कलाकृतियों की प्रणेत्री को इसकी चिंता नहीं है कि चित्र का अंश अपने में पूर्ण हो कर सम्पूर्ण के सौंदर्य में योग दे । उसका साध्य है, अपनी भावभूमि को व्यक्त भर कर देना। जहाँ उसने समझा कि कविता की पृष्ठभूमि बन गई, वहीं उसने अपनी तूलिका को विश्राम दे दिया । चित्रों के वस्तु-विधान में कविताओं के आलेखन के लिए स्थान छोड़ने की बात ने मनोवैज्ञानिक रूप से चित्रों को बहुत प्रभावित किया है । बहुधा उन में बिखराव आगया है।

पहले में मृत्यु और जीवन की भावनाओं को सफलता से रूप दिया गया है। यहाँ अमूर्त को मूर्त कर देने पर भी मूर्त होने का दोष नहीं आने पाया है। कारण यही है कि चित्र-निर्माण के समय मृत्यु और जीवन का अंकन ही प्रधान रहा, 'जननी और बाल' का नहीं ।

दूसरे में सब दीपकों को जला देने की भावना की अतिरंजना अवश्य है, परन्तु यह अस्वाभाविक नहीं हो सकी । इसका कारण यह है कि दीपक स्वतः दुःख-दग्ध-प्राणों का रूपक है। यदि कोई स्त्री एक साथ अनेक दीपकों को जलाती हुई दिखा दी जाती तो अनर्थ हो जाता । परन्तु यहाँ शरीर की शिरा-शिरा से ज्वालाओं का फूट निकलना उसी भावना का अन्य रूप है, जिससे कि 'सब बुझे दीपक जलाऊँ'

की आकांक्षा फूट चली । एक कविता के उपयुक्त रहा और एक चित्र के । यहाँ यथार्थ रूप में चित्र कविता की मानसिक पृष्ठभूमि उपस्थित करता है ।

महादेवी जी ने वस्तुओं को उनके वास्तविक स्वरूप से हटा कर काव्य के उपयुक्त बनाने में काफी सतर्कता का परिचय दिया है और श्रम भी किया है । दीपकों का आकार-प्रकार अधिकतर दैनिक व्यवहार में लाये जाने वाले दीपों से विशिष्ट है । रंग-रेखाओं का एक स्वाभाविक प्रवाह में घुल-मिल जाना, स्मृतियों के धुंधलेपन और मानसिक तरलता का परिचायक है । जैसा कि मैं अन्यत्र लिख चुका हूँ, महादेवी जी ने नेत्रों को मुकुलित कर के, अवयवों को पेशलत्व देकर और वस्त्रालंकारों को भी काल्पनिक रूप में चित्रित कर के चित्रों को भावनात्मक कविताओं के अत्यधिक समीप लाने की चेष्टा की है । सामान्यतया हाथों में विवशता, पैरों में गति और आंखों में करुणा का भाव विशेष रूप से तरल हो कर आया है, बादल और बिजली जैसे उनकी कविता को आच्छादित और आलोकित करते रहे हैं, वैसे ही उनके चित्रों को भी । नारी तत्व की सर्वत्र प्रधानता है जो स्वाभाविक ही है । उनके गीतों में जिस प्रकार उनका व्यक्तित्व बस गया है, वैसे ही उनके चित्रों पर भी उसका अधिकार अक्षुण्य है ।

अजन्ता का प्रभाव

अपनी दोनों रचनाओं की भूमिका में उन्होंने अपन चित्रों के विषय में थोड़ा बहुत लिखा है, जिससे उनकी कविताओं के रहस्यमय होते हुए भी उनके विचार रहस्यमय न रह सके । उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि—"कलाओं में चित्र ही काव्य का अधिक विश्वस्त सहयोगी होने की क्षमता रखता है ।" 'दीपशिखा' उनके इसी कथन को चरितार्थ करती है । वे अजन्ता से प्रभावित हैं और स्वयं मूर्तिकला में भी हस्तक्षेप करने के नाते उनके चित्रों पर कहीं-कहीं मूर्ति की छाया आ गई है । वे स्वीकार करती हैं कि उन्होंने चित्रों का उपयोग गीतों के वाह्य वातावरण को उपस्थित करने के लिए किया है—'मेरे अन्तर्मुखी गीतों में तो यह एक एकाग्रता ही व्यक्त हो सकती है, परन्तु चित्र में उनका वाह्य वातावरण भी चित्रित हो सका है ।"

महादेवी जी प्रधानतया कवि हैं और उन्होंने इसे माना है कि चित्र तथा कविता ये दोनों कलाएँ जहाँ भी रही हैं, वहाँ एक की प्रधानता और दूसरी का संकोच अनिवार्य है ।

'यामा' में उन्होंने चित्रकला को निरीक्षण और कल्पना पर तथा कविता को

भावातिरेक और कल्पना पर निर्भर बतलाया है। चित्रकार एक बार बने मानसिक चित्र को बहुत काल बाद भी अंकित कर सकता है, पर कवि नहीं। संक्षेप में यही उनके अपने विचारों का स्वरूप है। अच्छा होगा कि महादेवी के वाक्य से ही उनकी चित्रकला के इस विवेचन की परिसमाप्ति करूँ।

"मेरे गीत और चित्र दोनों के मूल में एक ही भाव रहना जितना अनिवार्य है, उनकी अभिव्यक्तियों में अन्तर उतना ही स्वाभाविक। गीतों में विविध रूप, रंग, भाव, ध्वनि, सब एकत्र है, पर चित्र में इन सब के लिए स्थान नहीं रहता··· इसी से मेरा चित्र गीत को एक मूर्त पीठिका मात्र दे सकता है, उसकी सम्पूर्णता बाँध लेने की क्षमता नहीं रखता।"

कला : मूर्ति

मन्दिरों में प्रणयलीन मिथुन-मूर्तियाँ

मिथुन-मूर्तियाँ भारतीय शिल्प-वैभव के अन्यतम प्रतीक, मध्यकालीन मन्दिरों की एक प्रमुख विशेषता हैं। सामान्य प्रेक्षक को उनमें अंकित नग्न कामुकता, मन्दिर के सात्विक पूजामय पवित्र वातावरण की पृष्ठभूमि में सर्वथा असंगत एवं हेय प्रतीत होती है। उसकी प्रतिक्रिया कभी खीझ की होती है, कभी संकोच मिश्रित आश्चर्य की। ऐसे लोग कम ही दिखायी देते हैं, जो एक ओर भारतीय मूर्तिकला के विकास-क्रम को तथा दूसरी ओर मध्यकालीन धार्मिक चेतना के संदर्भ को दृष्टि में रखकर उन्हें सही परिप्रेक्ष्य में अपेक्षित तटस्थता के साथ देख सकें। विद्वानों और कला-मर्मज्ञों ने भी इस ओर पूरी तरह ध्यान नहीं दिया है।

सन् १९५२ के 'रूपम्' में इन मिथुन-मूर्तियों की समस्या को लेकर 'The Mithuna in Indian Art' शीर्षक एक लेख प्रकाशित हुआ, जिसमें शिल्प-शास्त्र विषयक प्राचीन ग्रंथों से खोज कर उन अंशों को उद्धृत किया गया, जिनसे मिथुनाकृतियों की स्थिति के औचित्य पर प्रकाश पड़ता था। स्त्री-पुरुष के, परस्पर स्नेहाकर्षण युक्त, युवा-युग्म उर्वरता एवं मांगलिकता के प्रतीक माने जाते थे, ऐसा आभास शास्त्रीय उद्धरणों से मिलता है। शास्त्रीय विधान है कि **'शाखा शेषां मिथुनैर्विभूषयेत्'** अर्थात् अलंकरण की अन्तिम शाखा को मिथुनाकृतियों से विभूषित किया जाय। आनन्द कुमार स्वामी ने अपने विवेचन में इस बात पर बल देते हुए कि शिल्प-शास्त्रों से मिथुन-मूर्तियों के औचित्य पर पर्याप्त प्रकाश नहीं पड़ता, धार्मिक दार्शनिक ग्रंथों के आधार पर उसे समझाने का यत्न किया। 'द्वैत में अद्वैत की भावना' अथवा 'पुरुष' और 'प्रकृति' की औपनिषदिक धारणा में मिथुन-मूर्तियों के निर्माण की प्रेरणा का मौलिक स्रोत उन्होंने लक्षित किया। भारतीय मानस इस व्याख्या से भले ही सन्तुष्ट

हो जाय परन्तु पाश्चात्य मस्तिष्क इससे कभी पूरी तरह संतोष नहीं पाता। ओ० सी० गांगुली ने खजुराहो की कला के विषय में नव प्रकाशित 'The Art of the Chandelas' की भूमिका में इस विषय की चर्चा करते हुए अंग्रेजी समालोचक रोजर फ्राइ का मत उद्धृत किया है कि भारतीय मस्तिष्क प्रकृत्या बौद्धिक स्तर पर विरोधी लगने वाली वस्तुओं के अन्तर को स्वीकार नहीं करता। जघन्य कामुकता भरी आकृतियाँ भी हिन्दू मंदिरों में दैवी शक्तियों के प्रतीक रूप में निस्संकोच रूप से समाविष्ट की गयी हैं। श्री गांगुली ने अन्त में स्वयं भी यह स्वीकार किया है कि खजुराहो और उड़ीसा के मन्दिरों में अंकित मिथुन-मूर्तियाँ बहुधा हमारे सौंदर्य-बोध एवं तत्त्व-वोध की सीमाओं को पार करके अनौचित्य का स्पर्श करने लगती हैं।

मिथुन-मूर्तियों का आलेखन कोणार्क, भुवनेश्वर, पुरी, खजुराहो के मन्दिरों में ही नहीं, वरन् उसका विस्तार चित्तौड़, द्वारका और सोमनाथ के मन्दिरों तक मिलता है। आन्ध्र प्रदेश में नागार्जुनकोंडा की बौद्ध-कला में भी मिथुन-चित्रण विशेष उत्कृष्टता के साथ किया गया है। एलोरा, एलीफैन्टा, कार्ले कन्हेरी तथा दक्षिणवर्त्ती अन्यान्य शैव-वैष्णव मन्दिरों और गुफाओं में मिथुनाकृतियों का उन्मुक्त भाव से आलेखन किया गया है, भले ही उसमें उतनी नग्न कामुकता न हो, जितनी उत्तर भारत के पूर्वोक्त मन्दिरों में उपलब्ध होती है। सातवीं-आठवीं शती ई० से लेकर बारहवीं-तेरहवीं शती तक या इसी के आस-पास जिन मन्दिरों का निर्माण हुआ, उनमें ऐसे वासनात्मक चित्रण की विशेष प्रधानता है अतः इस काल की धार्मिक-दार्शनिक विचार-धारा से उनका अभिन्न सम्बन्ध रहा होगा, ऐसा सोचना स्वाभाविक है और इस सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिए यथेष्ट आधार भी मिलते हैं, फिर भी मिथुन-मूर्तियों की समस्या का पूरा निदान उससे नहीं होता। मध्यकालीन गुह्य तान्त्रिक साधनाओं का भी तो कोई न कोई मूल रहा होगा, इसकी चिंता भी विद्वानों को हुई है।

मध्यकालीन गुह्य साधना पद्धतियाँ प्रायः प्रजनन-प्रतीकों को उपास्य एवं पूज्य मानकर विकसित हुई हैं। शैव धर्म में शिवलिंग की उपासना जिस प्रकार विहित मानी जाती रही, उसी प्रकार शाक्त-मत में स्त्री-अवयव की। शैव-शाक्त धर्म का उद्गम कामोपासना (Sex-worship) से ही हुआ, यह बात शैव धर्म के मर्मज्ञों ने स्वीकार की है। काम-कर्म उर्वरता, समृद्धि और जीवन-शक्ति के रूप में पूज्य माना जाता था, इसका प्रमाण मिश्र, जापान, बेबीलोनिया और असीरिया की संस्कृतियों के

अध्ययन से मिल जाता है। यह आदिम भावना भारत में ही नहीं, सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया में व्याप्त थी, ऐसा माना गया है। असीरिया में 'अशेरह,' बेबीलोनिया में 'इश्तर', ग्रीस में 'डायोनीसस' तथा मेसोपोटामिया में एक अन्य 'ऊर्ध्व मेढ्र' पुरुष देवता की उपासना प्रचलित थी। ऋग्वेद में 'शिश्नदेवाः' का किंचित् असम्मान के साथ उल्लेख है, जिससे ज्ञात होता है कि संभवतः भारतवर्ष में सिंधु घाटी की अनार्य सभ्यता से यह प्रभाव आर्य सभ्यता में प्रविष्ट हुआ होगा। आर्य धर्म में देवी की उपासना कतिपय अपवादों को छोड़कर उस रूप में प्रचलित नहीं थी जैसी कि सिंधु घाटी में थी। वैदिक साहित्य में अम्बिका रुद्र की पत्नी न होकर भगिनी थी पर बाद में रुद्र 'शिव' और अम्बिका उनकी पत्नी 'पार्वती' के रूप में प्रतिष्ठित हुए। प्रजनन प्रतीकों के ही मूर्त रूप होने के कारण, आध्यात्मिक अर्थ में शिव-पार्वती को संसार के माता-पिता 'जगतः पितरौ' कहा गया। तान्त्रिक साधनाएँ अधिकतर शैव-शाक्त मतों के अन्तर्गत या उनके प्रभाव से विकसित हुईं अतएव किसी न किसी रूप में काम-भाव से उनका सम्बन्ध अवश्य बना रहा। बहुधा तो उनका विकास इसी भाव को केन्द्र में रखकर हुआ।

भारतीय धर्म-साधना तथा कला के क्षेत्र में उन्मुक्त वासना एवं कामुकता के प्रवेश का एक और स्रोत माना जाता है और वह है यक्ष, किन्नर, गंधर्व आदि की पार्वत्य संस्कृति। मथुरा, भरहुत, साँची, कौशाम्बी, राजघाट इत्यादि स्थानों से प्राप्त शुंग-कुषाण-कालीन कलाकृतियों की विषय-वस्तु को देखने से ज्ञात होता है कि यक्ष-गंधर्वों की उस काल में अद्वितीय महिमा थी। वेदिका-स्तम्भों तथा याग-पट्टों पर उन्मत्त विलासी मिथुन नग्न यक्षिणियों के ऊपर या पार्श्व में अंकित मिलते हैं। 'गंधर्व' और 'कंदर्प' शब्द मूलतः एक ही हैं तथा 'काम' इन्हीं के उपास्य 'देव' थे—यह तथा ऐसे अन्य आधारों को लेकर पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी जी ने मध्यकालीन धर्म-भावना में कामुकता के प्रवेश की विशेष व्याख्या की है। यक्ष, किन्नर, गंधर्व और विद्याधरों के मिथुनों का चित्रण ईसवी सन् के आस-पास की कला में व्यापक रूप में मिलता है। मदिरापायी कुबेर और कुसुमशर कामदेव यही इनके देवता थे। अतः विलास और वासना के प्रति देवत्व भाव के विकास में इनकी संस्कृति का महत्त्वपूर्ण योग रहा होगा, इसमें संदेह नहीं। शक-पार्थियन ग्रीक और हूण आदि के आगमन के साथ जो विदेशी संस्कार भारतीय संस्कृति में समाविष्ट हुए, वे भी किसी न किसी रूप में विलासिता के पोषक रहे होंगे, ऐसा अनुमान होता है। शुंग-कुषाण-काल की मृण्मूर्तियों में विलास-भाव से युक्त मिथुनों का अंकन पृथक् रूप से मिलता है।

मिट्टी के ऐसे अनेक ठीकरे मिलते हैं, जिन पर केवल स्त्री-पुरुष-युग्म ही उत्कीर्ण हैं।

निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्गों के द्वन्द्व और पारस्परिक विरोध ने प्रतिक्रिया रूप में मध्य काल में एक ऐसी विचार-धारा को जन्म दिया, जिसने 'योग' और 'भोग' के बीच तात्त्विक अन्विति स्थापित करके उनकी एकता पर बल दिया। यहाँ तक कि परम भोगी और परम योगी के बीच अन्तर स्थापित करना कठिन हो गया। कहा जाने लगा—**'श्री सुन्दरी साधन तत्पराणां योगश्च भोगश्च करस्थ एव'** अथवा **'अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः'**। 'The Kaul-Kapalika cults at Khajuraho' शीर्षक लेख, जो 'ललित कला अकादमी' की मुख-पत्रिका 'ललित कला' के प्रथम अंक में प्रकाशित है, के लेखक श्री प्रमोद चन्द्र ने खजुराहो की मिथुन-मूर्तियों के पीछे कौल-कापालिकों की ऐसी ही योग-भोग मूलक विचार-धारा का प्रभाव लक्षित किया है—

These orgiastic scenes, in which religious ascetics take part, should be distinguished, I think, from many other mithuna figures that adorn the walls of the numerous temples of Khajuraho. Most of these are powerful and tense works of art, untouched by courseness of any kind, and faithfully represent the state of ultimate spiritual unity where YOGA and BHOGA are one, and of which physical union is an appropriate earthly reflection.

यहाँ लेखक ने साधारण मिथुन-मूर्तियों में तथा तन्त्राश्रित मिथुन-मूर्तियों के बीच जो अन्तर किया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कारण यह है कि गुह्य साधना पद्धतियों ने मिथुन-भाव का समर्थन एक विशिष्ट प्रकार के सैद्धान्तिक आधार को लेकर किया, जब कि सामान्यतः मिथुनाकृतियाँ केवल आनन्द और मंगल की प्रतीक मानी जाती थीं; उनके पीछे किसी जटिल सिद्धांत का छाया न थी। इस दृष्टि से मध्यकालीन मंदिरों की 'युगनद्ध मिथुन-मूर्तियों' का तात्त्विक आधार अन्य मन्दिरों में सामान्यतः प्राप्त मिथुनाकृतियों के आधार से कुछ अंशों में भिन्न दिखाई देता है। इस भिन्नता को परखने के लिए मध्यकालीन तान्त्रिक उपासना पद्धतियों के इतिहास और स्वरूप पर दृष्टिपात कर लेना आवश्यक है। वही इनका वास्तविक उत्स है।

बौद्ध धर्म के अन्तर्गत स्थविरवादी हीनयान शाखा की अपरिवर्तनवादी कट्टरता के विरुद्ध महायान की लोकोन्मुखी परिवर्तनवादी उदार नीति की स्थापना के साथ, जो भौतिक परिवर्तन घटित हुए, उन्होंने नीरस योग-साधना को मूर्ति-पूजा अर्चा आदि से समन्वित करके सरसता प्रदान की। बुद्ध के 'मानुसी तनु' की उपेक्षा करके उनकी दिव्य काया की कल्पना की गयी। बुद्ध की विभिन्न कायाओं में 'धर्म-

काय' के साथ 'संभोगकाय' का भी समावेश हुआ। मन्त्र-तन्त्र तथा गुह्यतामूलक अन्यान्य तत्त्व निवृत्तिमूलक साधना में प्रवेश पाने लगे और धीरे-धीरे उसमें 'प्रवृत्ति' के लिए पर्याप्त क्षेत्र प्राप्त कर लिया गया। बुद्ध-वचनों में ही इन सबका मूल भी खोज लिया गया। निर्वाण का आदर्श 'महासुख' की उपलब्धि में परिणत हुआ और महा-सुख की व्याख्या सुरत-सुख की उपमा के द्वारा की जाने लगी। जन साधारण तक पहुँचते-पहुँचते महासुख विशुद्ध ऐन्द्रिय सुख का पर्याय बन गया। बौद्ध-धर्मावलम्बी वेतुल्लवादियों ने मैथुन सेवन को विहित माना। नागार्जुन और असंग जैसे महान् आचार्यों ने भी साधना पद्धति की गुह्यता को सैद्धान्तिक मान्यता प्रदान की। 'महायान सूत्रालंकार' में असंग ने मिथुन-भाव को सांकेतिक रूप से स्थान दिया। भगवान् बुद्ध के दिव्य गुणों में जिस 'प्रवृत्ति' की गणना की गयी है, उसका स्वरूप **'मैथुनस्य परावृत्तौ विभुत्वं लभ्यते परम्'** लिख कर स्पष्ट किया गया है। यहाँ मिथुन का अर्थ पंडितों ने बोधिसत्व और बुद्ध के एकीकृत होने से लिया है पर लोक ने संभवतः ऐसे गूढ़ार्थ की उपेक्षा करके सामान्य अर्थ लेना ही अधिक सुकर समझा। इसी प्रकार के गुह्य वाक्यों से वज्रयानी वासनामूलक उपासना पद्धति को बल मिला। हठ योग की भूमिका में 'सुषुम्ना' और 'प्राण' का संगम ही 'मैथुन' है। ऐसे प्रतीकार्थों का प्रचार हुआ, जो क्रमशः वासना को सैद्धान्तिक आधार देता हुआ विलुप्त होता गया। वज्रयान ही सहजयान बन गया। 'प्रज्ञा' और 'उपाय' का मिथुनीभूत रूप सहजावस्था का चरम आदर्श बना। 'प्रज्ञा' नारी-तत्त्व और 'उपाय' पुरुष-तत्त्व माना गया। लामा अनागारिक गोविंद, जो चित्रकार होने के साथ-साथ बौद्ध-तन्त्र के मान्य विद्वान हैं, इस से सहमत नहीं हैं कि बौद्ध धर्म में तान्त्रिकता का विकास शैव-शाक्त तन्त्रों से हुआ। उनका मत है कि बौद्ध तान्त्रिक सिद्धान्त तीसरी शती ई० तक स्थिर हो चुके थे, जैसा 'गुह्य समाज तन्त्र' नामक ग्रंथ से विदित होता है। 'मंजुश्री मूलकल्प', जो प्रथम शताब्दी ई० की रचना है, 'धारिणी' तथा 'यान्त्रिक' साधन का परिचय देता है। शाक्त मत और बौद्ध मत में मौलिक अंतर यह है कि जहाँ शाक्त शक्ति को सृष्टि का आधार मानता है, वहाँ बौद्ध उसे 'माया' समझता है, जिससे 'प्रज्ञा' के द्वारा ही उद्धार संभव है।[1] विनयतोष भट्टाचार्य ने भी बौद्ध तन्त्रों को शाक्त-तन्त्रों से उद्भूत नहीं माना है। उद्गम का अंतर भले ही हो परन्तु मध्य काल में एक समय ऐसा अवश्य आया कि बौद्ध और शैव दोनों परम्पराओं के तान्त्रिक काम-भाव से

१. द्रष्टव्य 2500 years of Budhism पृ० 362365 'Introduction to Buddhist Esoterism.

युक्त साधनाओं को प्रश्रय देने लगे थे। अनंगवैभव विरचित 'प्रज्ञोपाय विनिश्चसिद्धि' नामक ग्रंथ में महामुद्रा के अनुभव के लिये साधक द्वारा स्त्री-संग का विधान मिलता है। प्राय: सभी वज्रयानी सिद्ध साधना के लिए किसी न किसी निम्न वर्ग की स्त्री का संग करते थे, ऐसा प्रसिद्ध है। बौद्ध सहजियों ने कदाचित् इसी लिए स्त्री की उन्मुक्त भाव से प्रशंसा की है। वज्रयानियों ने बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध त्रिरत्नों, 'बुद्ध', 'धर्म' और 'संघ' के स्थान पर 'वज्र' 'पद्म' और 'मदन' को त्रिरत्न माना। 'वज्र' और 'पद्म' अथवा 'कमल कुलिश' स्त्री-पुरुष जननेन्द्रियों के प्रतीक थे, यह भी वज्रयानी साहित्य से स्पष्ट हो जाता है। वज्रयानियों का केन्द्रीय पीठ 'श्री पर्वत' नागार्जुन कोंडा था। नालन्दा, विक्रमशिला आदि भी प्रमुख केन्द्र थे। इस प्रकार आन्ध्र, उड़ीसा, बंगाल और बिहार वज्रयानी गुह्य साधनाओं के मुख्य क्षेत्र रहे। फलतः इन प्रदेशों की कला पर बौद्ध तान्त्रिक साधनाओं का निश्चित प्रभाव पड़ा।

कुछ विद्वानों का विचार है कि बौद्ध धर्म में गुह्य साधना का प्रवेश कौल मत के द्वारा हुआ, जिसके आदि प्रवर्तक मत्स्येन्द्रनाथ थे। कौल मत शाक्त मत का ही एक विशिष्ट विकास था। 'कुल' का अर्थ शक्ति और 'अकुल' का अर्थ शिव माना गया है। कुल और अकुल का सामरस्य ही कौलों का चरम लक्ष्य था। इस मत में शिव से भी अधिक महत्ता शक्ति को दी गयी। शक्तिहीन शिव शव के समान निष्क्रिय एवं निर्जीव कहे गये। 'कौल-ज्ञान निर्णय', 'कौलोपनिषद्' जैसे ग्रंथों से इस सम्प्रदाय की विचित्र उपासना-पद्धति एवं सिद्धान्तों का परिचय मिलता है। हठयोग के साथ-साथ 'पंचपवित्र' और 'पंचमकार' भी 'कौलाचार' में पूज्य समझे जाते थे। यद्यपि 'अकुलागमतन्त्र' में स्पष्टतया कहा गया है कि बाह्य मद, मांस और मैथुन में रत होने वाला नरक को जाता है पर व्यवहार में कौल मत ने इन सभी के बाह्य रूपों को अपनी उपासना-पद्धति में स्थान दिया।

बाह्य मदे रतो यस्तु मैथुने मांसभक्षणे।
ते सर्वे नरकं यांति इति सत्यं वचो मम॥

उक्त कथन के साथ 'कुलार्णवतन्त्र' के निम्नलिखित अंशों को मिलाने पर विरोधी स्थिति स्पष्ट हो जाती है।

सुरा दर्शन मात्रेण सर्व पापैः प्रमुच्यते। —५।५

मद कुम्भ सहस्रैस्तु मांसभार शतैरपि।
न तुष्यामि वरारोहे भगलिंगामृतं विना॥

न चक्रांकं न पद्मांकं न वज्रांकं इदं जगत् ।
लिंगांकं च भगांकं च तस्माच्छक्तिशिवात्मकम् ॥ अध्याय ८

शिव-शक्ति के नाम पर काम-कला और उपासना का एकीकरण हो गया और सैद्धान्तिक आधार मिल जाने पर कला में स्वाभाविक रूप से निस्संकोच उसकी अभिव्यक्ति होने लगी ।

कौलों से मिलता-जुलता दूसरा मत कापालिकों का था । दोनों मतों में इतनी सैद्धान्तिक निकटता रही कि वे परस्पर अभिन्न जैसे प्रतीत होने लगे थे । 'कर्पूर-मंजरी' और 'प्रबोध-चन्द्रोदय' से यह अभिन्नता प्रमाणित होती है । बौद्ध तान्त्रिक वज्रयानी सिद्धों पर भी कापालिक मत का प्रभाव था । सिद्ध कानुपा कापालिक भी थे और वज्रयानी भी । कापालिक मत में 'कपालवनिता' के रूप में किसी-न-किसी स्त्री का साहचर्य अनिवार्य माना गया । संस्कृत साहित्य के अनेक ग्रंथों में कापालिकों और उनकी सहचरी कपालवनिताओं का चित्रण मिलता है, जैसे भवभूति के 'मालतीमाधव' में वर्णित अघोरघंट और कपालकुंडला । योग मार्ग की 'वज्रोली' जैसी कतिपय मुद्राओं की सिद्धि स्त्री-साहचर्य के बिना असंभव थी । कपाल पात्रों में भर कर मदिरा-पान किया जाता था तत्पश्चात् 'रतिचक्रमहोत्सव' का आरम्भ होता था । स्त्री-योनि का ध्यान कापालिक-साधना का अंग था । योगिनियों की सिद्धि परमावश्यक थी । इन कापालिकों को महाव्रतिन्, महाभैरवानुशासन, परमेश्वरसिद्धान्तिन्, सोमसिद्धान्तिन् जैसी उपाधियों से गौरवान्वित किया जाता था । कौल-कापालिक मतों का प्रसार दसवीं, ग्यारहवीं, बारहवीं शती ईसवी के लगभग विशेष रूप से लक्षित होता है । प्रायः यही समय उन मन्दिरों के निर्माण का भी रहा, जिनमें मिथुन-मूर्तियाँ विशेष कामुकता के साथ आलिखित मिलती हैं । खजुराहो के मन्दिरों में मकार-सेवन के दृश्य तथा कापालिकों और कपाल वनिताओं की मूर्तियाँ स्पष्ट रूप से अंकित हैं । कापालिक गुरु 'संभारचीरिका', जिसमें रति-महोत्सव की सामग्री लिखी होती थी, हाथ में लिए शिष्यों और शिष्याओं के बीच चित्रित किये गये हैं ।[१]

इस सब से यह तथ्य स्वतःसिद्ध हो जाता है कि कौल-कापालिक साधनाओं के प्रभाव से ही शैव मन्दिरों में रति-रत मिथुनाकृतियों को मूर्त किया जाता था और उस काल में उनको अपवित्र मानने के स्थान पर उपासना का पोषक माना जाता था। मंदिरों के बाहरी भाग में ही नहीं, गर्भ-गृहों के प्रमुख द्वार पर भी उनका अंकन

---

१. द्रष्टव्य Lalit Kala, vol. I

मिलता है। भोग और योग के इस समीकरण ने वैष्णव-उपासना को भी प्रभावित किया, जिसका परिचय जयदेव के 'गीतगोविन्द' से पूर्णतया मिल जाता है। गीत-गोविन्द १२वीं शती की रचना है और जयदेव का जन्म-ग्राम तिन्दुविलय बंगाल के 'वीरभूमि' नामक प्रदेश में था, यह सुविदित है। शाक्त और बौद्ध तान्त्रिक प्रभाव का ही यह परिणाम था, कि जयदेव ने निस्संकोच भाव से 'हरिस्मरण' के साथ 'विलासकला-कुतूहल' को जोड़ दिया। 'कलिकलुषं शमयतु हरिरमितम्' कामोपभोग को उपासना का अंग माने बिना नहीं लिखा जा सकता था, भले ही उसकी स्थिति उपासक में न मानकर इष्ट में मानी गयी हो। माधुर्य-भक्ति का विकास कामना और वासना का निषेध करके नहीं, वरन् उनको ईश्वरोन्मुखी बनाकर हुआ। राधा-कृष्ण के रूप में मिथुन-भाव को भावात्मक तीव्रता की उत्कृष्टतम कोटि तक पहुँचाने का यत्न किया गया, साथ ही स्थूल वासनात्मक चित्रण भी होता रहा। वैष्णव मन्दिरों में प्राप्त बहुत सी मिथुन-मूर्तियाँ माधुर्य-भाव का ही मूर्तरूप प्रतीत होती हैं, विशेष रूप से उत्तर मध्य काल में। जिस प्रकार शिव-शक्ति के युग्म की चरम एकता 'अर्द्धनारीश्वर' के रूप में चित्रित की गयी, उसी प्रकार राधा-कृष्ण की सम्मिलित प्रतिमा की कल्पना भी की जाने लगी। गोकुल के एक मन्दिर में मुझे राधा-कृष्ण की एक ऐसी ही मूर्ति देखने को मिली।

धार्मिक चेतना के एक विशिष्ट प्रभाव के कारण मध्य काल में भले ही कामोत्तेजक मिथुन-मूर्तियों को मन्दिरों में स्थान मिला हो पर आज उनके औचित्य पर प्रायः प्रश्नचिह्न अंकित किया जाता है। श्लीलता और अश्लीलता की समस्या उपस्थित हो जाती है। कुछ मिथुन-मूर्तियाँ कला की दृष्टि से इतनी मनोरम हैं और उनमें मनोभाव का इतना सूक्ष्म और सशक्त अंकन हुआ है कि सौन्दर्य-दृष्टि उनकी नग्नता को स्वयं आच्छादित कर लेती है और अश्लीलता का बोध ही नहीं होता परन्तु ऐसी भी अनेक मूर्तियाँ मिलती हैं, जिनमें ऐसी कलात्मक पूर्णता का अभाव है। वे दर्शक के मन पर प्रायः प्रतिकूल प्रभाव ही डालती हैं।

विचार करने पर ज्ञात होता है कि वास्तव में अश्लीलता खंड-दर्शन में है। जीवन की समग्रता और विशदता के संश्लेष में देखने पर कोई भी क्रिया अपने में अशिव या अश्लील नहीं रह जाती। एक प्रसंग में जो वस्तु अश्लील नहीं प्रतीत होती, संदर्भ-भेद होने पर वही अश्लील लगने लगती है। मध्यकालीन मन्दिरों के निर्माताओं ने जीवन का खंड-दर्शन न करके उसे उसकी समग्रता में ही देखा है और शिव, विष्णु, बौद्ध या अम्बिका के रूप में किसी महान् कल्याणकारिणी

'युगनद्ध' मुद्रा में उत्कीर्ण खजुराहो की एक सजीव पाषाण-प्रतिमा का उध्र्वांश जिसमें मुखाकृतियों से, आलिंगित, तन्मयता का चरम सुख प्रतिबिम्बित है। निर्माणकाल : दसवीं-ग्यारहवीं शती ई० के लगभग।

फलक—१०

आन्ध्रप्रदेश में स्थित नागार्जुनकोंडा में उत्कीर्ण पाषाण-प्रतिमा। रसमग्न प्रेमी-युग्म। सद्यस्नाता स्त्री के केशों से गिरती जलबूंदों को मोती के विभ्रम से चोंच में लेने के लिए, पैरों के पास बैठा हंस ग्रीवा उठाये है। बौद्ध कला; निर्माणकाल सातवाहनयुग, प्रथम-द्वितीय शताब्दी ई०।

फलक—११, चित्र—१.

अजन्ता की एक गुफा में उत्कीर्ण 'देवमिथुन' की पाषाण-प्रतिमा। इस प्रकार के मिथुन-भाव से युक्त युग्मों का भावमय न अजंता के चित्रों में भी अनेक स्थानों पर मिलता है। पांचवीं शती ई०।

फलक—११, चित्र—२.

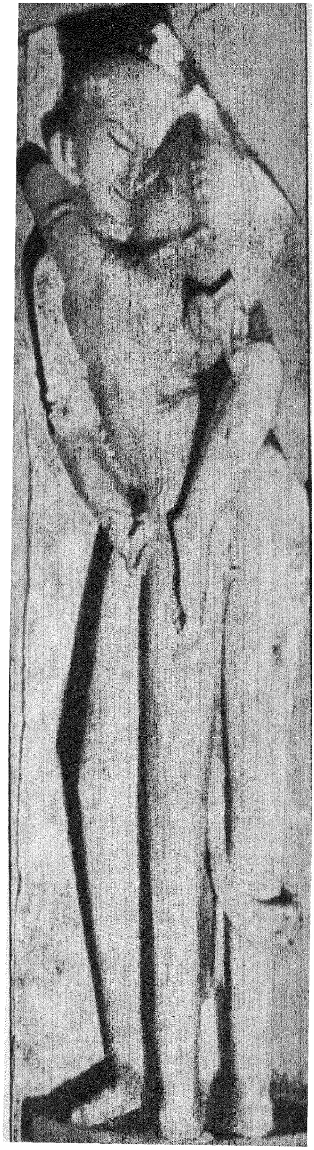

'युगनद्ध' मुद्रा में उत्कीर्ण खजुराहो की एक प्रतिनिधि रमणीक पाषाण-मूर्ति, मध्यकाल।

शक्ति को ही केन्द्र में रक्खा है। जिस परिप्रेक्ष्य से उन्होंने जीवन को देखा, उसमें काम-वासना उन्हें बहिष्कार करने योग्य नहीं लगी, उन्होंने उसके सर्वव्यापी सृजन-तत्त्व की महत्ता पर बल दिया और उसे पूज्य भी माना। प्रवृत्ति को पाप न मानकर निवृत्ति का साधन माना। जहाँ तक ऐसी स्थति रही वहाँ तक मिथुनांकन ग्राह्य है पर ह्रास-काल की बहुत-सी मिथुन-मूर्तियाँ असुन्दर, अरुचिकर और अश्लील भी दिखाई देती हैं क्योंकि उनमें प्रेरणा की गहराई और दृष्टि की समग्रता का अभाव मिलता है, साथ ही स्थूल मिथुन-कर्म की विकृतियाँ एवं अतिरंजित कामुकता अनावश्यक प्रतीत होती है। यह विचार कि काम-भाव को नग्न रूप में चित्रित करके 'विषस्य विषमौषधम्' के न्याय से चित्त-शुद्धि करना ही ऐसी मिथुन-मूर्तियों के निर्माण का ध्येय था, यथार्थ और आधार-युक्त सिद्ध नहीं होता क्योंकि उत्तेजित तत्त्वों को शमित करने की कोई चेष्टा कलाकारों ने नहीं की है।

आधुनिक भारतीय मूर्तिकला

चित्र, स्थापत्य और वास्तु यह तीनों दृश्य कलाएँ परस्पर समन्वित होकर समष्टि रूप में शिल्प-शिव की विशाल त्रिमूर्ति का निर्माण करती हैं। तीनों एक ही अन्तश्चेतना के तीन मुख हैं और एक ही सत्य की त्रिधा अभिव्यक्ति। कला के विभिन्न विकास-युगों में सदा सर्वत्र एक पारस्परिक अन्तर्संगति मिलती रही है। प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय कला इस तथ्य का ज्वलन्त साक्ष्य प्रस्तुत करती है। प्रागैतिहासिक काल से लेकर वर्तमान काल तक किसी न किसी रूप में यह संगति मिलती अवश्य है।

भारतीय शिल्प-शास्त्र के प्राचीन ग्रंथों से भी यह तथ्य स्पष्ट प्रमाणित होता है। प्रतिमा का स्वरूप बताते हुए एक स्थान पर लिखा गया है 'यथा चित्रं तथैवोक्तम्' अर्थात् चित्र और मूर्ति तत्त्वतः एक हैं केवल उपादान या माध्यम का अन्तर है। इसके साथ-साथ भारतीय मत मूर्ति को तक्षण-कला का अभिन्न अंग मानता है। गुफा, मन्दिर, स्तम्भ और मूर्ति इन चारों अंगों की गणना एक साथ की जाती है। इस प्रकार परम्परा और शास्त्रीय दृष्टिकोण से भी चित्र, स्थापत्य और वास्तु की घनिष्ठता और एकता स्पष्ट प्रमाणित होती है।

भारतीय कला के आधुनिक युग के आरम्भ होने से पूर्व दृश्य कलाओं की यह एकता, यह समन्वित स्थिति, एक विशेष मूर्ति-भंजक संस्कृति के आघातों प्रत्याघातों और राजनैतिक पराभव के कटु अनुभवों के कारण बहुत कुछ बिखर चुकी थी। जिस सांस्कृतिक बल और अप्रतिहत संकल्प-शक्ति से अजन्ता, एलोरा, एलीफैंटा की गुफाएँ; साँची, सारनाथ, अमरावती के महान् स्तूप; सोमनाथ, कोणार्क, खजुराहो, आबू, चित्तौड़, मीनाक्षी और महाबलीपुरम् के मन्दिर निर्मित हुए वह उत्तर-मध्यकाल के बाद क्रमशः क्षीण से क्षीणतर होती गयी; फिर भी शताब्दियों तक ही नहीं सहस्राब्दियों तक इस देश ने शिल्प-साधना की दिशा में जिस आश्चर्यजनक सृजनशीलता का परिचय दिया वह एक ऐति-

हासिक गौरव की वस्तु है। देश-विदेश के विविध संग्रहालयों में संग्रहीत भारतीय शिल्प की प्रचुर सामग्री उसका एक अंश मात्र ही है जो या तो विनष्ट कर दी गयी या अब भी यत्र-तत्र भूगर्भ में दबी पड़ी है। बौद्ध-जैन, शैव-वैष्णव सभी भारतीय धर्म मूर्तिपूजक थे और सभी को किसी न किसी काल में मुख्यतया राज-शक्तियों का आश्रय-सहयोग प्राप्त हुआ। भारतवर्ष का सारा आध्यात्मिक चिन्तन और पौराणिक कल्प-कथा-वैभव, साहित्य के अतिरिक्त चित्र और मूर्तिकला के माध्यम से ही जन साधारण के मानस तक पहुँच सका। मोक्ष की अखंड कामना और जीवन के प्रति असीम विश्वास युगों तक भारतीय साहित्य और कला के प्रमुख प्रेरणा-स्रोत रहे हैं। आनन्द कुमार स्वामी और स्टैला क्रैमरिश जैसे भारतीय कला के समर्थ व्याख्याकारों ने आध्यात्मिक आस्था की इस गहराई की ओर संकेत किया है। 'टाइम' नामक एक विदेशी पत्र में अभी हाल में ही प्रकाशित एक टिप्पणी में कहा गया है कि भारतीय मूर्तिकला में स्थूल शारीरिक बन्धनों से मुक्त 'सूक्ष्म-शरीर', जिसे देवताओं का शरीर भी बताया गया है, का ही अंकन हुआ है। बात बहुत दूर तक ठीक है। फिलाडेलफिया संग्रहालय के क्यूरेटर का यह मत भी यथार्थ ही प्रतीत होता है कि भारतवर्ष के अनेक देवताओं का धरती पर अस्तित्व ही न होता यदि उनकी मूर्तियाँ प्रस्तरों और धातुओं में निर्मित न हुई होतीं।

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला का उद्देश्य, आधार और दृष्टिकोण जैसा था उसी के अनुरूप उसके नियमों का विकास हुआ। सभंग, अभंग, त्रिभंग आदि मुद्राएँ; पद्म आदि आसन और ताल-मान पर आधारित एक से लेकर दस 'ताल' तक के दैवी, मानवी, अतिमानवी शरीरों का स्वरूप सभी कुछ शिल्पियों के लिए शास्त्रकारों ने नियत कर दिया था। यह सब नियम धीरे-धीरे जटिल होते गये और उनका परिपालन बिना परम्परा अर्जित ज्ञान के सम्भव न रहा। मौलिक प्रतिभा का जो भी चमत्कार प्रकट हुआ वह परम्परागत नियमों को आत्मसात् करके ही व्यक्त हो सका; शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन प्रायः नहीं किया जाता था।

यह पूर्व-परम्परा वर्तमान समय में प्रायः लुप्त हो गयी है। वंशानुक्रम से जिन शिल्पकारों ने इसे प्राप्त किया वे अब थोड़े बहुत उड़ीसा, जयपुर, ग्वालियर और मैसूर आदि विभिन्न प्रदेशों में शेष रह गये हैं और अपनी जीविका, व्यापारिक स्तर पर उतरे बिना, चलाने में असमर्थ हैं। परम्परागत मूर्तिकला

को जीवित रखने वाली वैसी एकनिष्ठ मोक्ष-कामी धार्मिक चेतना का बौद्धिकता से आक्रान्त इस वैज्ञानिक युग में अभाव ही रहा है। विशाल सांस्कृतिक प्रतीक के रूप में मन्दिरों के निर्माण की योजना अब सरकार नहीं बनाती। जो योजनाएँ वह बनाती है उसमें शिल्पियों के स्थान पर इंजीनियरों की आवश्यकता होती है। शिल्पी के व्यक्तित्व की सार्थकता अब प्रायः उसकी इकाई में अधिक सीमित हो गयी है। सोमनाथ के नव निर्माण का राष्ट्रीय संकल्प एक अपवाद है और कुछ अंशों में युग-धर्म के विरुद्ध भी। जिस प्रकार वहाँ ठेके पर प्राचीन मूर्तियों की भद्दी अनुकृतियाँ टूटे-फूटे अनुपयुक्त पत्थरों से, सीमेंट लगा-लगा कर, अन्न और सम्मान की क्षुधा से ग्रस्त निरीह शिल्पियों द्वारा बनवायी जा रही हैं उसको देखकर भारतीय शिल्पकला के गौरव से परिचित एक संवेदनशील व्यक्ति को आन्तरिक कष्ट ही होता है। कम से कम मुझे तो अवश्य ही हुआ। मंदिर के नव-निर्माण का तो नहीं पर प्राचीन भग्नावशेष को एक बार पुनः ध्वस्त कराने का ऐतिहासिक श्रेय इस योजना के कर्णधारों को अवश्य मिलेगा।

इस संक्षिप्त पृष्ठभूमि में आधुनिक भारतीय मूर्तिकला की स्थिति पर विचार करने से कई महत्त्वपूर्ण बातें सामने आती हैं। सर्वप्रथम तो यह कि युगों-युगों से चली आती हुई पूर्वोक्त त्रिधा शिल्प रूपों की समन्वित एकता बहुत कुछ बिखर गयी है। दूसरे मूर्तिकला तक्षण का अभिन्न अंग न रहकर स्वतन्त्र हो गयी है और वास्तु की अपेक्षा वह चित्रकला के अधिक निकट आ गयी है। सीधी बात कही जाय तो कहना होगा कि वास्तुकला के प्रदेश से चित्र और मूर्ति दोनों कलाओं को निष्काषन दे दिया गया है। इस स्थिति के लिए कुछ तो पाश्चात्य प्रभाव उत्तरदायी है और कुछ नवीन युग की चिन्तन पद्धति जो कलाकार के स्वतन्त्र मौलिक व्यक्तित्व को पर्याप्त गौरव प्रदान करती है। इसी स्थल पर तीसरी महत्त्वपूर्ण बात हमारा ध्यान आकृष्ट करती है और वह यह कि नयी विचार पद्धति द्वारा स्वीकृत इस व्यक्तित्व की मान्यता ने कलाकार को मुक्ति की प्रेरणा देकर उस दिशा में जाने का आत्मिक-बल सौंप दिया है जिसमें शास्त्रीय विधि-निषेध निरर्थक हो जाता है और परम्परा-परिपालन या लीक-लीक चलने की वृत्ति प्रतिभा की मौलिकता के आगे नत-शीश होने लगती है। आज कला की जीवनी-शक्ति परम्परा की अंगरक्षिका बनने के स्थान पर उसकी विधायिका बनने में ही अपनी वास्तविक सार्थकता समझती है।

आधुनिक चित्र और मूर्तिकला की, विकास-क्रम से सिद्ध, जिस ऐतिहासिक

निकटता का उल्लेख ऊपर किया गया है वह यथार्थ है परन्तु फिर भी दोनों के आयाम, माध्यम, और व्यवहार-क्षेत्र में पर्याप्त अन्तर है। चित्र तीसरे आयाम (Dimension) का आभास देने की शक्ति रखता हुआ भी अन्ततः द्वि-आयामात्मक (Two dimensional) है किन्तु मूर्ति प्रत्येक दशा में त्रि-आयामात्मक ही रहती है। चित्र का स्वरूप रंग-रेखाओं द्वारा स्पष्ट होता है परन्तु मूर्ति ठोस होने पर भी प्राकृतिक छाया-प्रकाश के सहारे ही व्यक्त होती है। चित्र की अपेक्षा मूर्ति-रचना अधिक श्रम-साध्य है और उसके उपादानों एवं माध्यमों में भी अधिक वैविध्य दिखायी देता है। रचना-विधि भी स्वाभाविक रूप से माध्यम-भेद द्वारा बदलती जाती है। कुछ माध्यमों में ढाल कर, कुछ में कोर कर और कुछ में उभार कर रूप-विन्यास किया जाता है। यह अन्तर तो बहुत कुछ ऊपरी है। मूल अन्तर कल्पना-गत है। चित्र की तुलना में मूर्ति अधिक सम्बद्ध और अन्तर्संगतिमयी कल्पना की अपेक्षा रखती है क्योंकि चित्र एक-मुखी होता है जबकि मूर्ति चतुर्मुखी। मूर्ति में भावव्यंजकता लाना अपेक्षाकृत कठिन होता है क्योंकि माध्यम अधिक स्थूल होता है। इस दृष्टि से देखने पर मर्तिकला ही क्या सभी ललित कलाओं का मान्य तारतम्य (Gradation) उलट जाता है और मूल्यांकन का क्रम ही बदल जाता है।

विचार के अतिरिक्त भावना या संवेदना का संवहन गति उत्पन्न करने के साथ-साथ कला में एक अतिरिक्त आयाम की भी सृष्टि करता है जिसकी स्थिति कलाकार, कलाकृति और कला-पर्यवेक्षक तीनों को एक सूत्र में बाँधती है। यह आयाम दूसरे शब्दों में अंतरंग सूक्ष्म मानसिक सम्बन्ध और भावात्मक गहराई का आयाम है। इसके अभाव में कोई भी रचना कला-कृति नहीं कही जा सकती। आधुनिक-कला में सबसे अधिक परिवर्तन इसी आयाम में घटित हुआ। नयी परिस्थितियों में नये मानसिक सम्बन्धों का उदय हुआ और उनके द्वारा कला का स्वरूप बहुत कुछ परिवर्तित हो गया। शिल्प-त्रिमूर्ति के मुखों का बाह्य सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाने पर भी आन्तरिक सम्बन्ध आज भी नष्ट नहीं हुआ है। आधुनिक मूर्तिकला इस व्यापक सत्य का अपवाद नहीं है। इस युग विशेष में प्रवाहित होने वाली चेतना की अन्तर्धाराओं का सजग प्रतिफलन अन्य कलाओं के समानान्तर ही मूर्तिकला में भी परिलक्षित होता है।

आधुनिक योरोपीय कला के सारे वाद, सारे आन्दोलन प्राकृत (Natural) रूपांकन और सतही यथार्थवाद (Surface realism) के विरुद्ध प्रारम्भ हुए और उनका अन्त किसी-न-किसी रूप में अभिव्यंजनावाद

(Expressionism) की सीमा में आकर हुआ। वहाँ जितना तीव्र आग्रह यथातथ्यांकन की ओर कभी रहा उससे अधिक तीव्र आग्रह अब प्राकृत या यथातथ्य रूप के विरुद्ध दिखायी देता है। एक असंतुलित स्थिति तब थी, दूसरी उसके बाद हुई। युद्धों की विभीषिका से आक्रांत योरोपीय मानस आगे भी कोई सर्वथा स्वस्थ संतुलन खोज सकेगा इसमें संदेह ही है। भारतीय कला की समस्या दूसरी है। यहाँ यथार्थ और प्राकृत रूपांकन के प्रति कभी भी कोई आग्रह नहीं रहा और न उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप उसके विरोध या निषेध का। सम्पूर्ण मध्यकालीन भारतीय कला व्यंजक रूपों (Expressive forms) की एक विशिष्ट शैली की परम्पराबद्ध अभिव्यक्ति है। अंग्रेज़ों के शासन से पूर्व योरोपीय ढंग के यथार्थ अंकन से भारतीय कलाकार प्रायः अपरिचित थे। यदि अंग्रेज़ों और अंग्रेज़ी के माध्यम से योरोपीय शिक्षा-संस्कारों का आगमन भारत में न हुआ होता तो भारतीय कला का स्वरूप आज कुछ दूसरा ही होता। भारतीय कला के आगे जो मूल समस्या है वह यह है कि योरोपीय शैली के रूपाकारों की व्यंजकता से अपने परम्परागत संस्कारों का मेल कैसे स्थापित किया जाय। योरोपीय प्रभाव एक ऐतिहासिक सत्य है और आज का कटु यथार्थ। उससे इनकार करना हठ है और पलायन करना कायरता। भारतीय कला की मूल प्रकृति को समझ कर भावना और संवेदना के स्तर पर चौथे आयाम में ही एक समाधान खोजा जा सकता है। मैं परम्परा के बोझ को प्रेरणाहीन रूप में ढोने से ईमानदारी के साथ नयी परिस्थितियों के अनुकूल नये रूपों और आकारों को ग्रहण करना श्रेयस्कर समझता हूँ। कारण यह है कि सत्य का आश्रय मिल जाने से भावना में एक ऐसी शक्ति आ जाती है जो किसी भी परायी वस्तु को आत्मसात् करने की अद्भुत् क्षमता रखती है। फिर आज तो मानवता भौगोलिक सीमाओं को तोड़-फोड़ कर वैज्ञानिकता के सहारे इतनी निकट आ गयी है कि अपनी और परायी की रूढ़ धारणा पर बल देना 'लघुचेतसां' की सूची में जान-बूझकर नाम दर्ज कराने जैसा लगता है।

इधर-उधर की बात काफ़ी हो चुकी। अब कुछ विषय की लाज भी रख ली जाय।

भारतीय शिक्षा मन्त्रालय की ओर से १९५४ में दिल्ली के जयपुर हाउस में देश की आधुनिक मूर्तिकला को संगठित रूप से प्रदर्शित होने का प्रथम बार सौभाग्य प्राप्त हुआ। संकल्प का आधार था प्राचीन शिल्प-गौरव की पुनर्प्रतिष्ठा —'A nation which in the past has brought forth perhaps

the greatest masterpieces of sculpture in the world, is under an obligation to revive this tradition'। जो कला-कृतियाँ इस प्रदर्शनी में भेजी गयीं उनके आँकड़े मनोरंजक और ज्ञानवर्धक हैं।

पूर्णतया शास्त्रीय (Traditional)	रचनाएँ—	५	प्रतिशत
पुनरुत्थानवादी (Revivalist)	"	१०	"
प्राकृतवादी (Naturalistic)	"	३५	"
विशुद्ध अमूर्त (Strictly abstract)	"	५	"
प्रभाववादी (Impressionist)	"	३०	"
अभिव्यंजनावादी तथा अन्य आधुनिक शैलियों की (Expressionist and Modern)		१५	"

अमूर्त, प्रभाववादी और अभिव्यंजनावादी रचनाएँ एक प्रकार से आधुनिक वर्ग में ही आती हैं। यह मिलकर ५० प्रतिशत होती हैं और यदि इनके साथ योरोपीय प्रभाव के नाम पर प्राकृतवादी रचनाओं को भी जोड़ दिया जाय तो विशुद्ध भारतीय परम्परा का प्रतिनिधित्व करने वाली या पुनरुत्थानवादी रचनाओं की सम्मिलित संख्या नगण्य जैसी प्रतीत होने लगती है। यह संख्याएँ वस्तु स्थिति का सर्वथा सही गणित भले ही न प्रस्तुत करें परन्तु प्रमुख प्रवृत्तियों की तुलनात्मक स्थिति पर तो प्रकाश डालती ही हैं।

पिछले पाँच-सात दशकों में भारतीय कला का जो भी जागरण हुआ उसके प्रमुख केन्द्र राजकीय कला-विद्यालय (Art schools) ही रहे हैं। इस प्रदर्शनी में अधिकतर उन्हीं का प्रतिनिधित्व रहा। श्री देवीप्रसाद रायचौधरी, जो उस समय मद्रास आर्ट स्कूल के प्रिंसिपल थे, सबसे अधिक सम्मानित किये गये। अन्य सम्मानित मूर्तिकारों में शंखो चौधरी, चिंतामणि कर, धनराज भगत, रामकिंकर बैज आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ललितकला अकादमी की ओर से अब तक आयोजित सभी वार्षिक चित्रकला प्रदर्शनियों में मूर्तियाँ प्रदर्शित और पुरस्कृत होती रही हैं। प्रथम प्रदर्शनी में गिरीश भट्ट और ईश्वरलाल बी० गुज्जर, द्वितीय में शंखो चौधरी और जितेन्द्रकुमार तथा तृतीय में अमरनाथ सहगल की मूर्तियों को सम्मान प्राप्त हुआ। दिल्ली के अतिरिक्त मूर्तियों का स्वतंत्र रूप से प्रदर्शन जहाँगीर आर्टगैलरी में अनेक शिल्पियों द्वारा किया गया। वहाँ भारतीय मूर्तिकारों की एक संस्था 'Indian Sculptors Association' नाम से सक्रिय रही है। पिल्लू. आर. पोचखानवाला नामक महिला मूर्तिकर्त्री की मूर्ति-प्रदर्शनी विशेष सफल हुई। उनकी 'गपशप' और 'चकरी' शीर्षक मूर्तियाँ शिल्प-

कौशल की दृष्टि से सराहनीय हैं। बम्बई के अन्य अग्रणी मूर्तिकारों में आइ. एम. दवीरवाला, सी. जी. जोशी, के. डेंगले, करमरकर, वी० एल० बैंडगेलवर और तालीम आदि के नाम लिये जाते हैं। लखनऊ में सुधीर खास्तगीर और श्रीधर महापात्र, शान्तिनिकेतन में रामकिंकर बैज और बड़ौदा में शंखो चौधरी मूर्ति-कला विभागों के कर्णधार हैं। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास आदि सभी आर्ट स्कूलों में योरोपीय पद्धति से मूर्तिकला की शिक्षा दी जाती है। और भी अनेक कलाकार मूर्तिकला को सजीव बनाये रखने में प्रयत्नशील हैं, जिनमें डी. बी. जोग, एम० धर्मानी, भवेश सान्याल, प्रेमजा चौधरी, प्रदोष दास गुप्त, सुनील पाल, तुंगनाथ श्रीवास्तव तथा प्रमोद गोपाल चटर्जी आदि के नाम महत्त्वपूर्ण हैं।

यह हुआ आधुनिक भारतीय मूर्तिकला के नवोत्थान और उसके प्रमुख प्रेरकों का संक्षिप्त उल्लेख पर इससे उसके आन्तरिक स्वरूप का कुछ भी आभास नहीं मिलता। उसे पाने के लिए पुन: चौथे आयाम की ओर मुड़ना होगा।

एक समय था जब राजा-महाराजाओं, गवर्नरों और वायसरायों की आदमकद घुड़सवार मूर्तियाँ विदेश से बन कर भारत आती थीं और पार्कों तथा राज-भवनों में सुशोभित होती थीं। किसी आंतरिक भावनात्मक प्रेरणा से हीन होने पर भी यह मूर्तियाँ ऊपरी रूप सादृश्य, कायिक विशालता तथा मँजे तक्षण-कौशल के कारण महत्त्व पाती रहीं। और जो भी कलाकार इस काल में मूर्तिकला की ओर प्रेरित हुए उनके आगे प्राचीन शिल्प-वैभव का आदर्श न होकर इन्ही व्यक्ति-मूर्तियों का आदर्श था। कुछ मूर्तिकार जो अधिक सजग थे, इस प्रभाव से मुक्त होकर भारतीय लोक जीवन की ओर मुड़े और उन्होंने जनसाधारण को अपनी कला का मुख्य विषय बनाया। देवीप्रसाद रायचौधरी, चिंतामणिकर और सुधीर खास्तगीर इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय हैं। व्यक्ति-मूर्तियों का निर्माण इन्होंने त्यागा नहीं क्योंकि आर्थिक संबल उसी से उपलब्ध होता था परन्तु अपनी आन्तरिक समवेदना इन्होंने अधिकतर लोक-जीवन को ही प्रदान की। किसान-मजदूर और साधारण गृहस्थ जिस वातावरण में जीवन यापन करते हैं उस तक इन मूर्तिकारों की भावनात्मक पहुँच हुई। देवीप्रसाद रायचौधरी की 'श्रम का गौरव' (The Truimph of Labour), 'हरिजनों का मंदिर प्रवेश', चिंतामणिकर की 'माता और शिशु' (Mother and Child) तथा सुधीर खास्तगीर की 'भूख' (Hunger), नामक कला कृतियाँ इसी भावधारा से प्रेरित सशक्त रचनाएँ हैं। रायचौधरी ने माननीय सुख-दुःख का सब से अधिक व्यापक स्तर पर अनुभव किया जिसका प्रमाण उनकी 'शरदागम' (When winter comes) शीर्षक मूर्ति से उपलब्ध

होता है। यह मूर्ति अपनी अभिव्यंजना शैली की चरम सफलता के विन्दु पर पहुँच कर प्रतीकात्मक हो गयी है जो शैली गत सफलता से भी बड़ी वस्तु है। शीत की अनुभूति वर्तमान जीवन में चारों ओर व्याप्त कुंठा और जड़ता का आभास उत्पन्न करा कर मूर्ति को नया अर्थ प्रदान करती है।

चिंतामणिकर ने कतिपय पौराणिक विषय भी उठाये हैं जैसे मेघदूत और उषा-सवितर (Clom Messenger, Usha Savitar) आदि। इनमें कलाकार का प्रयत्न आकाशी व्यक्तित्वों को, बिना परम्परागत देव-मूर्तियों का अनुकरण किये, मूर्त करने का रहा है, जिसमें उसे निश्चय ही सफलता प्राप्त हुई है। 'मेघदूत' का उड़ने-उड़ने जैसा भाव अपने कौशल में अजन्ता के देव गंधर्वों का स्मरण दिलाते हैं। ऐसी ही टेकनीक से स्केटिंग सम्बन्धी (Skating the Stag) आधुनिक विजय की एक गति-युक्त मूर्ति का निर्माण हुआ है। स्थापत्य के स्थिर माध्यम में गति को साधने का कौशल चिंतामणिकर की एक सराहनीय विषेशता है। प्राचीन भारतीय मूर्तिकला में इस कौशल का गौरवपूर्ण उदाहरण 'नटराज' की विश्व विख्यात प्रतिमा है, जिसमें तांडव की क्षिप्र गति को साधने में किसी अज्ञात कलाकार ने अद्वितीय सफलता प्राप्त की।

रामकिंकर बैज की मूर्तिकला का विकास केन्द्र यद्यपि शान्ति निकेतन ही है फिर भी प्रकृति से उनकी कला नितान्त आधुनिक है और शान्ति निकेतन की विख्यात रूप-कल्पना तथा शिल्प-विधि से उसका रंच मात्र मेल नहीं है। आश्चर्य होता है कि कैसे यह व्यक्तित्व वहाँ उपजा और कैसे उस वातावरण ने उसे धारण किया। कदाचित इस का श्रेय नंदलाल बसु जैसे उदारमना मनीषी को है, जो स्वयं अनेक नये प्रयोगों में रुचि लेते रहे हैं। वास्तव में 'किंकरदा' की अमूर्त कल्पना से निर्मित सीमेंट और कंकरीट की विशाल मूर्तियों में इतनी प्राण शक्ति है कि उनका निषेध नहीं किया जा सकता। उनकी कला भारतीय कला के विकास पथ पर आधुनिकता का विजय स्तंभ है। उन्मुक्त खुले आकाश के नीचे विनिर्मित उनकी मूर्तियों में एक विचित्र भव्यता लक्षित होती है और वह भी बहुधा उस अनगढ़ खुरदरेपन के बावजूद जो आधुनिक शिल्प की एक स्वतन्त्र विशेषता है। यह सही है कि उनकी कला-कल्पना व्यक्तिगत रुचि की सीमाओं से आबद्ध है पर इस तरह सीमित होकर भी उनकी मूर्तियाँ अनेक सीमाओं को तोड़ कर गढ़ी गयी हैं, यह स्पष्ट प्रतीत होता है। व्यक्ति-मूर्तियों के निर्माण में उनकी वृत्ति इतनी मुक्त नहीं दिखाई देती। उनके द्वारा रची गयी कलागुरु अवनीन्द्र ठाकुर की मूर्ति विशेष प्रभावित नहीं करती किन्तु मिस मधुरा सिंह की जो आवक्ष-मूर्ति (Bust)

उन्होंने बनायी वह निस्संदेह एक अद्वितीय कला-कृति है। आधुनिक मूर्तिकार की परिभाषा देते हुए एक कला-मर्मज्ञ ने लिखा है—

"The modern Sculptor is a man who works with instinct as his instinct force. His work is emotional.—Nothig more or less than the abstraction of his intense feeling."

—A PIMER OF MODERN ART, ले० Sheldon cheney
पृ० २८२

चेनी की दी हुई यह परिभाषा योरोपीय मूर्तिकारों से भी अधिक रामकिंकर बैज पर घटित होती है।

शंखो चौधरी यद्यपि रामकिंकर बैज के शिष्य और शांतिनिकेतन की ही उपज हैं पर उन्होंने कुशलता पूर्वक विदेशी प्रभाव को आत्मसात् करते हुए अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व का निर्माण किया है। आधुनिक भारतीय मूर्तिकला को समृद्ध बनाने में उनका अद्वितीय योग रहा है। ईश्वरलाल बी० गुज्जर, जी० सी० जोशी, एम. के. कोल्हाटकर आदि ख्याति प्राप्त मूर्तिकार बड़ौदा के जिस मूर्तिकला-विभाग से सम्बद्ध रहे हैं, शंखो चौधरी आजकल उसी के अध्यक्ष हैं। यह विभाग मूर्तिकला के क्षेत्र में कदाचित सबसे अधिक मौलिक कार्य कर रहा है। शंखो चौधरी की कला में लय-ताल की महत्ता सर्वोपरि है। रूप-विन्यास, भाव-भंगिमा, मुखमुद्रा आदि, सभी एक लय के आश्रित प्रतीत होते हैं। कलाकार को लय के सूक्ष्म आरोहों-अवरोहों पर ऐसा अधिकार है कि वह अपनी इच्छा के अनुसार उन्हे तार, ताम्र, प्रस्तर, मिट्टी आदि सभी माध्यमों में भावानुकूल व्यवस्था देता रहता है। उसकी कल्पना मूर्त और अमूर्त के बीच स्थित दिखाई देती है। कहीं-कहीं वाह्य-रूप की अत्यधिक उपेक्षा भी हो जाती है जैसे उसके अति प्रिय विषय 'अरुणशिखा' पक्षी की कुछ मूर्तियों में। शंखो चौधरी पर हेनरी मूर और बर्बरा हेपवर्थ आदि ब्रिटिश मूर्तिकारों की लयात्मक शिल्पशैली की स्पष्ट छाया परिलक्षित होती है। बम्बई के पूर्वोल्लिखित अनेक मूर्तिकारों की शैली के सम्बन्ध में भी यही बात चरितार्थ होती है।

धनराज भगत पहले लाहौर के थे पर अब दिल्ली के पॉलीटेकनीक कला विद्यालय में शिक्षक हैं। योरोप और अमरीका की यात्राओं से जो विदेशी संस्कार उन्होंने अर्जित किये, वे उनकी शिल्प-कला को एक विशेषता प्रदान करते हैं। विषय-वस्तु की दृष्टि से धनराज भगत की गणना रायचौधरी के साथ की जानी चाहिए थी क्योंकि अधिकतर उन्होंने भी श्रमिक जीवन को मूर्त किया है परन्तु

अतिरंजित दीर्घ आकृतियों के विशिष्ट रूप-विन्यास के कारण उनकी स्थिति पृथक् हो जाती है। उनकी शैली अंग्रेज़ शिल्पी लेह्मब्रक से मिलती-जुलती है। श्रमिकों की आकृतियों में अतिरंजना का पुट संभवतः श्रम के गौरव की प्रतिष्ठा करने के लिए ही मूर्तिकार ने दिया है। नव-निर्माण में संलग्न भारत की एक निश्चित भावधारा की झलक इस कलाकार की कृतियों में मिलती है।

इन प्रमुख आधुनिक मूर्तिकारों के बीच श्रीधर महापात्र कोणार्क और जगन्नाथपुरी की कला-परम्परा के सजीव अवशेष के रूप में आज भी प्राचीन भारतीय रूप कल्पना और पौराणिक विषय-वस्तु के प्रति अपनी अटूट आस्था और दृढ़ विश्वास रखते हुए अडिग स्थित हैं। सेलखड़ी (Soft stone) के छोटे-छोटे खंडों पर महीन घने अलंकरण और कोमल मसृण रेखाओं से युक्त उनकी राधाकृष्ण और शिव-पार्वती की मूर्तियाँ आज के नये शिल्पियों को जीवन्त रूप-विन्यास के कौशल में चुनौती देती हैं। महापात्र की आन्तरिक भावमयता उन्हें परम्परागत प्राचीन शैली से बाँधे हुए है। मूर्तिकला में उनकी स्थिति लगभग वैसी ही है जैसी चित्रकला के क्षेत्र में थी क्षितीन्द्रनाथ मजूमदार की। दोनों को भक्ति-भावना से ही कला की प्रेरणा उपलब्ध होती है।

ऊपर जिन मूर्तिकारों के सम्बन्ध में विशेष चर्चा की गयी वे आधुनिक भारतीय मूर्तिकला की प्रमुख प्रवृत्तियों के महत्त्वपूर्ण संवाहक हैं। इसी लिए उनकी कला की कुछ विशेषताओं का भी निर्देश कर दिया गया। टेकनिकल विशेषताएँ और भी बहुत सी हैं पर उनके साथ किसी छोटे से निबन्ध में न्याय करना न तो सम्भव ही है न अभीष्ट ही। आधुनिक मूर्तिकला का पूरा विश्लेषण-विवेचन एक स्वतन्त्र प्रयत्न की अपेक्षा रखता है।

सारी स्थिति पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि जिस प्रकार योरोप के सभी आधुनिक वादों का न्यूनाधिक स्फुटन आधुनिक भारतीय चित्रकला में हुआ है वैसा मूर्तिकला में अभी नहीं हो पाया है। घनवाद(Cubism) दो चार स्फुट उदाहरणों को छोड़ कर किसी मूर्तिकार द्वारा पूर्ण भावात्मक आवेग के साथ अपनाया नहीं गया। जितेन्द्रकुमार की पुरस्कृत मूर्ति 'केश प्रक्षालन' (Dipping hairs) इस धारा की एक श्रेष्ठ कलाकृति मानी गयी है यद्यपि उसमें नारी शरीर को पौरुषमय बना देने की कोई स्पष्ट सार्थकता प्रतीत नहीं होती फिर भी मूर्ति की शक्तिमयता से इनकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने इस शैली में और भी मूर्तियाँ निर्मित की हैं जैसे 'वीणा वादक' आदि। संभव है आगे वे घनवादी कला का अधिक श्रेष्ठ प्रतिनिधित्व कर सकें। योरोप में

आर्चिपेंको और विलियम वाउएर (Wauer) ने इस धारा में विशेष सफलता प्राप्त की है। अतियथार्थवाद का एक भी उदाहरण यहाँ की मूर्तिकला में अभी मेरे देखने में नहीं आया; फिर यह कोई आवश्यक भी नहीं है कि हर योरोपीय 'वाद' का यहाँ अनुवाद किया ही जाय। योरोप की तरह माइकेलेंजिलो, ऐंदाँ और ऐप्स्टीन जैसे महान् मूर्तिकार भले ही यहाँ न हुए हों और भले ही रोम एथेन्स की सुगठित शरीर वाली मूर्तियों से यहाँ प्रेरणा न ग्रहण की गयी हो फिर भी आधुनिक भारतीय मूर्तिकला की अपनी पूर्व-अर्जित पूँजी इतनी पर्याप्त है कि वह उसे नवीन दिशा में विकास करने का सशक्त आधार दे सकती है। अमूर्त रूप-विधान भारतीय शिल्प परम्परा में नहीं आता पर अमूर्त को रूप देने का प्रयत्न तो उसकी प्रमुख विशेषता रही है। ऐसी दशा में भावना की गहराई और सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि के योग से नये शिल्पी यदि नये रूपों और आकारों को अवतरित कर रहे हैं तो उन्हें अवश्य भारतीय कला के इतिहास में निश्चित स्थान मिलेगा। आज मूर्तिकला के क्षेत्र में प्रतिभा का अभाव नहीं है, अभाव है निर्मित मूर्तियों के सही सौन्दर्य-बोध और सम्मान का। लोक-मानस की गहरी आवश्यकता बन कर ही कोई कला उत्पन्न और समृद्ध हो सकती है अतः यदि मूर्तिकला को समुन्नत करना है तो मूर्ति के प्रति पुनः सुरुचिपूर्ण रागात्मक सम्बन्ध की स्थापना करनी होगी।

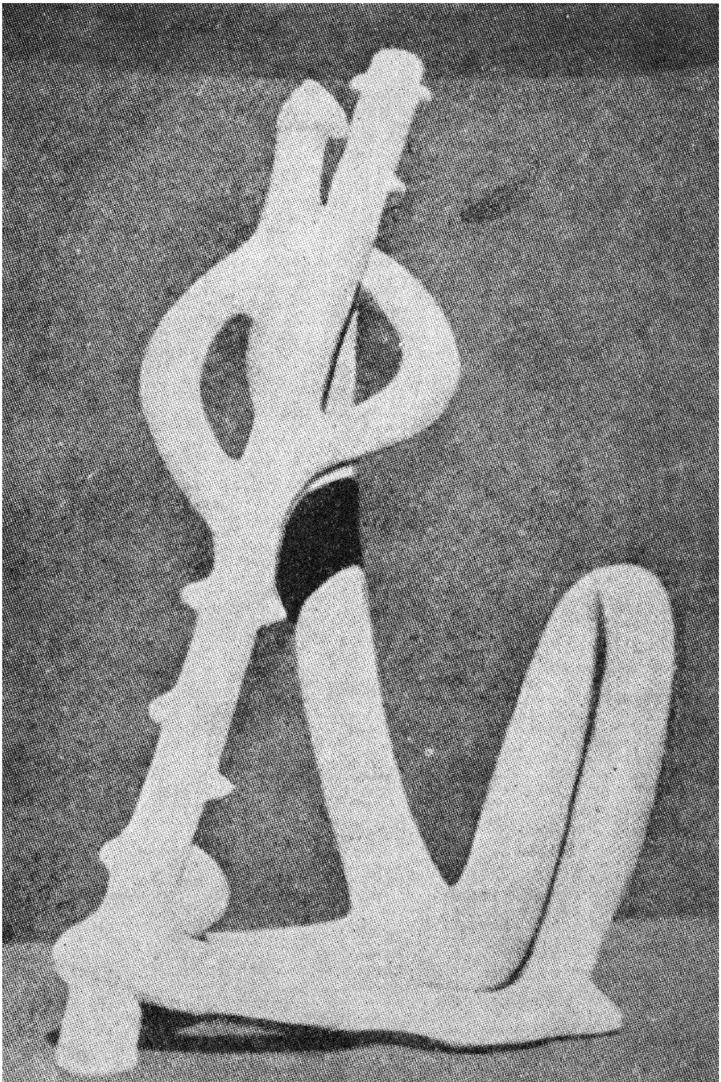

संगीतज्ञ : धनराज भगत द्वारा कंक्रीट से निर्मित एक लयात्मक मूर्ति जो प्रथम राष्ट्रीय कला प्रदर्शनी में पुरस्कृत हुई ।

फलक—१३, चित्र १ सितारवादक : जितेन्द्र कुमार द्वारा विनिर्मित एक सशक्त काष्ठ-मूर्ति ।

फलक—१३, चित्र—२.

रामकिंकर बैज द्वारा प्रणीत मिस मधुरा सिंह की पाषाण-प्रतिमा ।

कला : शिल्प

वैदिक साहित्य में 'शिल्प' का स्वरूप

कला और शिल्प की विकसित चेतना का प्रमाण प्राचीन वैदिक साहित्य से पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। यह शिल्प-चेतना आरम्भ से ही कला के भौतिक प्रतिमानों के प्रति स्पष्ट दृष्टि रखने वाली जागरूक तथा गहरी दिखाई देती है। मध्यकाल के विशिष्ट सामाजिक परिवेश में जैसे धर्म, दर्शन, नीति, भक्ति और उपासना सभी किसी न किसी रूप में शास्त्रीयता के बन्धनों से जकड़ दिये गये, उसी तरह शिल्प-चेतना को भी नियमबद्ध करके नितान्त शास्त्रानुगामिनी बना दिया गया। किन्तु वैदिक साहित्य इस प्रकार की शास्त्रीय जड़ता से प्रायः मुक्त प्रतीत होता है। ऐतरेय आदि ब्राह्मण ग्रंथों में शिल्प सम्बन्धी जो उल्लेख मिलते हैं, वे शास्त्रीयता रहित जीवन्त एवं मुक्त सौन्दर्य-भावना का उद्घोष करते हैं। यह वैदिक साहित्य की सामान्य प्रकृति के अनुरूप ही है।

शिल्पों के द्वारा मनुष्य की आत्मा का संस्कार होता है, यह बात अनेक बार दोहराई गयी है।

आत्म संस्कृतिर्बाव शिल्पानि छंदोमयं
वा एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते। —ए. ६।२७
आत्मसंस्कृतिर्वै शिल्पानि। —गो. उ. ६।२७

जैसा उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है, ऐतरेय ब्राह्मण में शिल्पों की आन्तरिक छंदोमयता की ओर भी संकेत किया गया है। कौशीतकी ब्राह्मण शिल्पों को प्राणतत्त्व की तरह महत्त्वपूर्ण एवं जीवन के लिए अनिवार्य बताता है। यह अवश्य है, कि उसके समक्ष आज की तरह 'शिल्प' शब्द चित्र मूर्ति आदि कलाओं का बोधक न होकर नृत्य-गीत-वाद्य युक्त संगीत का ज्ञापक है।

त्रिवृद्वै शिल्पं नृत्यं गीतं वादितमिति --कौ. २९।५
प्राणा: शिल्पानि --कौ. २५।१२।१३

शतपथ ब्राह्मण में चित्र शब्द का प्रयोग भी हुआ है और उसमें शिल्प को प्रतिरूपात्मक भी बताया गया है, जो केवल चित्र तथा मूर्ति पर ही सम्यक् रूप से घटित हो सकता है—

सर्वाणि हि चित्राण्यग्निः --शत. ७।४।१।२४
यद्वै प्रतिरूपं तच्छिल्पम् --शत. ३।२।१।५

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है, कि वैदिक साहित्य में 'शिल्प' शब्द अनेक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। संगीत के अतिरिक्त मूर्तिकला और चित्रकला आदि का भी उसमें समावेश रहा है।

शिल्प की जो परिभाषाएँ वैदिक साहित्य में मिलती हैं, उनसे यह धारणा सहज ही बनायी जा सकती है कि इन कलाओं में 'प्रतिरूपात्मकता' अथवा 'अनुकृति' का यथेष्ट महत्त्व था। आज की कला में, 'अनुकृति' को इतनी महत्ता प्राप्त नहीं है, जितनी कृति को। ऐतरेय ब्राह्मण में दी गयी शिल्प की एक परिभाषा अनुकृति की महत्ता स्पष्टतया स्वीकार करती है।

एतेषां वै शिल्पानामणुकृतिरिह शिल्पमधिगम्यते।

कला में अनुकरण के भाव को यूनानी चिंतकों ने सिद्धान्त रूप में ग्रहण किया था। अरस्तू ने 'अनुकृति' को अपने काव्य-विवेचन का मूल आधार बनाया। प्राचीन भारतीय मनीषियों ने कदाचित् उतनी महत्ता तो अनुकरणमूलकता को कला में कभी नहीं प्रदान की, किन्तु चित्रकला के षडंगों में से एक अंग के रूप में 'सादृश्य' को अवश्य मान्यता प्राप्त हुई थी, जैसा 'कामसूत्र' की यशोधरी टीका से सिद्ध होता है। यह 'सादृश्य' पाश्चात्य फोटोग्राफिक अनुरूपता से भिन्न कोटि का तत्त्व है, और इसमें रूपगत समानता की अपेक्षा प्रकृतिगत साम्य अधिक महत्त्व रखता है। चीनी शिल्प-साधकों ने भी इसे इसी अर्थ में ग्रहण किया और अपने षडंगों में स्थान दिया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण के अन्तर्गत प्राप्त होने वाले चित्र-सूत्र में, जो भारतीय चित्रकला का अप्रतिम शास्त्र है, '**चित्रे सादृश्य करणं**' प्रधान कहकर सादृश्य को विशेष महत्त्व दिया गया है।

आधुनिक शिल्प ने, बहुत से प्राचीन निर्जीव संस्कारों को ध्वस्त करके, भाव-भूमि के नवीन धरातल का स्पर्श किया है; जो श्लाध्य है। किंतु उसका एक अतिवादी रूप ऐसा भी है, जहाँ 'सादृश्य' या 'प्रतिरूपता' को इतनी दूर तक तिरस्कृत कर दिया गया है कि यत्न करने पर भी दर्शक को बहुधा मूल

विषय-वस्तु का बोध नहीं हो पाता। कला को लोक-ग्राह्य अथवा बोध-गम्य बनाने में 'सादृश्य' का अपना स्वतन्त्र महत्त्व है और कुछ अंशों में उसका होना आज भी अपेक्षित प्रतीत होता है। रचयिता और रचना-प्रेक्षक के बीच सम्बन्ध-सूत्र बनाये रखने के लिए, कोई न कोई आधार होना आवश्यक है। कुछ कलाकार एक ओर तो अपनी कृतियों के विचित्र से विचित्र वस्तुमूलक शीर्षक देने का अदम्य उत्साह रखते हैं; दूसरी ओर जब दर्शक को उनकी कृतियों में उस वस्तु-विशेष का आभास भी नहीं मिलता, तो वे इस भ्रामक सिद्धान्त का सहारा लेते हैं कि दर्शक को चित्र में वर्ण-योजना आदि ही देखनी चाहिए, उसका विषय क्या है, इसकी बिल्कुल जिज्ञासा नहीं करनी चाहिए।

शिल्प को 'प्राण तथा आत्मा का संस्कर्ता' तभी बनाये रखा जा सकता है, जब हम उसकी अन्तःप्रकृति को पूरी तरह आत्मसात् करके, एक दृढ़ निष्ठा के साथ गम्भीर मानवीय संवेदना से आपूरित कर सकें।

शिल्प की वैदिक धारणा के संदर्भ में यहाँ जो बात कही गयी है, वह तात्त्विक दृष्टि से ही मान्य है। पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण से वैदिक साहित्य को देखने का कोई भाव इस प्रसंग में अभीष्ट नहीं है।

भारतीय कला के प्रमुख प्रतीक

जिन विशिष्ट वस्तुओं अथवा आकृतियों के आधार पर हम किसी कला-कृति को सहसा भारतीय कह सकते हैं, उनमें से हंस, हाथी और कमल प्रमुख हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि कला में भारतीयता के परिचायक यही हैं। तात्पर्य केवल इतना ही है कि इन कतिपय वस्तुओं से भारतीय कला-चेतना और भाव-कल्पना का इतने अधिक समय से इतना घनिष्ठ सम्पर्क रहा है कि आज भी जब हम आत्मगौरव को संक्षिप्त-सूक्ष्म संकेत से व्यक्त करने चलते हैं तो ऐसी ही किसी भारतीयताभिव्यंजक परंपरागत प्रतीकार्थमय वस्तु का चयन करते हैं। उदाहरण के लिए, विधान-परिषद् के लिए जो चिह्न स्वीकार किया गया है उसमें भारतवर्ष की भौगोलिक सीमा-रेखा के अन्दर एक हाथी का सुन्दर मस्तक चित्रित है।

किसी देश की कला का 'प्रतीक' वही मान्य होगा जिसमें उस देश-जाति की अन्तश्चेतना और अन्तरात्मा केन्द्रित हो। मेरी दृष्टि से हंस, हाथी, कमल आदि इन्हीं दृष्टियों से भारतीय कला के प्रतीक हैं। प्रस्तुत विषय का प्रतिपादन दो दृष्टियों से किया गया है :

(१) प्रतीकों के अर्थ और उनका ऐतिहासिक आधार।

(२) भारतीय कला में उनका प्रयोग।

इन प्रतीकों के चुनाव में प्रमुखता के अतिरिक्त एक क्रम, एक शृंखला का भी ध्यान रक्खा गया है। तीनों का सम्पर्क जल से है जो यहाँ सृष्टि का आदि तत्त्व माना जाता है। कमल केवल जल से, हाथी जल और थल से तथा हंस जल, थल और आकाश तीनों से सम्बद्ध है। हंस और कमल का सान्निध्य स्त्रीत्व की कोमलता व्यंजित करता है तथा हाथी और कमल का सान्निध्य पुरुष की शक्ति का। ये तीनों प्रतीक किसी न किसी रूप में पूज्य देवताओं से संयुक्त हैं, अतएव भारतीय कला-चेतना की धार्मिक वृत्ति को भी व्यंजित करते हैं।

कमल

सृष्टि के आरम्भ में जब चेतना अवतरित होने को हुई तो विशाल जलराशि में एक सहस्रदल स्वर्ण-कमल खिला जो सूर्य के समान प्रकाशमय था। यह सृष्टि के गर्भ का द्वार बना। इसकी नाल क्षीरसागरशायी विष्णु की नाभि से उत्पन्न हुई और इसके विकास से चतुर्मुख ब्रह्मा प्रकट हुए। पृथ्वी को भी कमल-रूपा माना गया है। रूपक की भाषा में सारी जलराशि स्त्री-शरीर और कमल योनिवत्। शास्त्रीय आधार पर भी योनिस्थ जरायु का आकार कमल पुष्प की तरह माना गया है। 'पुष्पवती' होने का आधार यही कमल है। 'कमल-कुलिश' साधना भी कमल के सृष्टि-द्वार का प्रतीक होने की पोषक है। कमल में परम-सत्ता की मातृत्व अथवा जननशक्ति का तत्त्व सन्निहित है। स्त्रीत्व और सृष्टि की भावना के कारण ही पौराणिक कल्पना में इसे देवी का संसर्ग प्राप्त हुआ। वेदों में देवी-उपासना नहीं के बराबर है परन्तु फिर भी अग्नि का उत्पत्ति-स्थान कमल है। इसी का विकास बाद में 'पद्मा' देवी के रूप में हुआ। यों ऋग्वेद में किसी 'पद्मा' की स्मृति नहीं है परन्तु उसके अखिल रूप में पहले-पहल इसका उल्लेख है। इसके दो नाम हैं 'श्री' और 'लक्ष्मी'। राजागण पत्नी के अतिरिक्त राजलक्ष्मी से भी परिणीत माने जाते थे। इस पद्मा देवी की उपाधियाँ हैं, पद्म-सम्भवा, पद्मवर्णा, पद्म-ऊरू, पद्माक्षी, पद्मिनी, पद्मालिनी और पुष्करिणी आदि। इन संज्ञाओं को देख कर लगता है कि 'लक्ष्मी' की सारी रूप-कल्पना का एकमात्र आधार कमल ही है। इन्हीं उपाधियों के साथ इसे 'हरि-वल्लभा' और 'विष्णु-पत्नी' भी कहा गया है। भारतीय संस्कृति का एक महत्त्वपूर्ण अंश वैष्णवों की देन है और 'कमल' से उत्पन्न 'कमला' उनकी शक्ति होने के नाते वैष्णव कला और वैष्णव कल्पना की शक्ति बन गई। कमल विष्णु के चार आयुधों में से एक है अतएव इसका अंकन जहाँ-जहाँ विष्णु का अंकन हुआ है, वहाँ-वहाँ अवश्य हुआ है।

'पद्मप्रिया' देवी की मूर्तियाँ जिसे कमल ही प्रिय है, ईसा से दो शती पूर्व के साँची और भरहुत के द्वारों और छतों में खुदी हैं। भरहुत की १५वीं आकृति गज-लक्ष्मी है। मूर्ति के चरण अनेक-दल कमल पर हैं। इसी कमल की नाल के पास से दो भारी-सी नालें इधर-उधर गई हैं जो पुनः दो भागों में बँट गई हैं। दोनों ओर दो कमलगर्भों पर दो हाथी खड़े हैं और एक-एक कमल का पात बना है। सारी आकृति गोलाकार है और इस गोले को भी चार कमल घेरे हैं। अखिल रूप की ही अन्य ऋचा में इस 'पद्मा' के मूल 'श्री लक्ष्मी' को

'प्रजानां भवसि माता' और 'क्षमा' कहा गया है। क्षमा पृथ्वी है और पृथ्वी हिरण्यगर्भा। कमल को भी हिरण्यमय माना गया है।

बसाढ़ से प्राप्त लक्ष्मी की एक मूर्ति है जिसमें खिले-अनखिले कई प्रकार के कमल हैं, परन्तु प्रतिमा के पर लगे हैं। साधारणतया मेसोपोटामिया की प्रतिमाएँ पक्षवती होती हैं पर भारत के लिये यह नवीन बात है।

मोएन-जो-दड़ो और बौद्ध-कला में कमल

मोएन-जो-दड़ो की सभ्यता के प्राप्त प्रतीकों में से लिंग प्रमुख है। यह शैव उपासना का द्योतक है। इसी के साथ पूरक रूप में वहाँ कमलधारिणी देवी की मूर्ति पाई जाती है। इसके उन्नत स्तनों से विश्वपालक मातृत्व की व्यंजना होती है और ऐतिहासिकतया यह ऋग्वेद से पहले की है, अर्थात् सबसे प्राचीन उपलब्ध कलाकृति है जिसमें कमल का उपयोग हुआ है। प्रतीकार्थ भी बाद की परम्परा से भिन्न नहीं है। इससे स्पष्टतया प्रमाणित होता है कि मातृत्व और कमल का सम्बन्ध अत्यन्त प्राचीन है और मूलतः शैवों की देन है। तदुपरान्त शायद यह भावना ब्रह्म और लक्ष्मी से सम्बद्ध है। उनके साथ भी कमल का प्रतीक और सृष्टि का भाव सन्नद्ध है। बौद्धकला में भी सर्वत्र कमल से युक्त देवी का दर्शन होता है। कभी-कभी केवल कमल द्वारा ही उसकी सत्ता व्यक्त की जाती है। मुख्यतया इस देवी की संज्ञाएँ हैं 'पद्महस्ता' और 'पद्मरागि'। महायान बौद्धधर्म में 'पद्मपाणि' एक बोधिसत्त्व हैं जिन्होंने बुद्धों की सहायता की। नवीं शताब्दी की नैपाल से प्राप्त एक मूर्ति के हाथ में कमल है और यह वरद मुद्रा में है। मृणाल उँगलियों में उलझा हुआ है पर कुहनी के पास आकर टूट गया है। यहाँ कमल बोधिसत्त्व की असीम दया, स्निग्ध-शान्त मनोवृत्ति, अलौकिक देवत्व और पवित्र दैवी सौन्दर्य का प्रतीक बन गया है। भारतीय बौद्ध परम्परा में उत्तर-मध्यकालीन 'पद्मपाणि' या 'अवलोकितेश्वर' की मूर्ति की पीठिका भी कमल से बनी है। बौद्ध प्रतिमाओं में कमल का पीठिका रूप में आना वैष्णव प्रभाव से सम्भव हो सकता है और स्वतंत्र रूप से भी। महायान बौद्ध धर्म की सर्वश्रेष्ठ देवी प्रज्ञा-पारमिता की एक प्रतिमा में, जो १३वीं शती की है और जावा से प्राप्त हुई है, पीठिका कमल की बनी है। प्रज्ञा-पारमिता बुद्धों और बोधिसत्त्वों की मूल शक्ति है।

बाद की कला में कमल और भी कई रूपों में अंकित किया गया। गोमूत्रि-

काओं (बेलों) में इसका प्रयोग बहुधा होता था। जहाँ कहीं भी अलंकरण की सुकुमारता आवश्यक होती थी वहीं कमल किसी न किसी रूप में अंकित किया जाता था। प्राचीन काल में स्त्रियों के शृंगार का प्रधान पुष्प कमल था जो 'हस्ते लीलाकमल' से प्रकट है। अजन्ता के चित्रों के पीछे लगता है जैसे कमल की एक छाया-सी डोलती है। सारी आकृतियों में यही पंक्ति, "नव-कंज-लोचन, कंज-मुख, कर-कंज, पद-कंजारुणम्" चरितार्थ होती है। जान पड़ता है जैसे उन चित्रों की कोमलता का मूल आधार कमल ही हो। यों वैसे भी अनेक रूपों में कमल चित्रों का अंग बना है। अशोक-स्तम्भों की लाट पर लौटी हुई कमलपंखरियों का अलंकरण है। गांधार शैली में भी कमल की गोमूत्रिकाएँ विद्यमान हैं। और जगह कहीं-कहीं 'फुल्लों'—फूले हुए कमलों के अन्दर मानवीय आकृतियाँ बनी मिलती हैं। एक मूर्ति में शेषशायी विष्णु के पैरों के पास एक कमल आधार रूप में बना दिया गया है। हंस के साथ कमल का अंकन भी सहज सुलभ है। कमलपत्र पर दयमन्ती ने पाती लिखकर हंस के द्वारा ही नल के पास भेजी थी।

हाथी

प्राचीन काल में हाथी का उपयोग राजकीय क्षेत्रों में अधिक था। हाथी राजा की शक्ति का प्रतीक था। वह स्वयं 'गजराज' के रूप से राजत्व का भागी बन जाता था। भारतीय युद्ध में उसका अद्वितीय महत्त्व था। सेना की अगली रक्षा पंक्ति हाथियों की ही होती थी। हाथियों का शिकार करना गौरव की वस्तु था। जंगली हाथी पालतू बनाये जाते थे। दुर्भेद्य दुर्गों के अनुल्लंघ्य द्वार गज-कुंभ के प्रहारों से टूट जाते थे। मदोन्मत्त हाथियों का द्वन्द्व और उनकी जलक्रीड़ा दर्शनीय होती थी। कालिदास को रामगिरि से टकराते मेघ की सर्वोपयुक्त उपमा हाथी की यही क्रीड़ा लगी थी—

आषाढस्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्।
वप्रक्रीडा-परिणत-गज-प्रेक्षणीयं ददर्श।

और वाल्मीकि ने राज्य-हीन राम को 'निःश्वसन्नोपि कुंजरः' कहा था। प्रमुख उत्सवों में राजकीय वाहन बनकर हाथी समस्त ऐश्वर्य का प्रतीक बन जाता था।

वैदिक साहित्य में इन्द्र की हाथी से तुलना की गयी है। मध्यकाल के सुपूजित देव गणेश, 'एकरदन गजवदन' हैं। उनके, 'विघन विदारन' होने के कारण हाथी के साथ भी रक्षक का भाव जुड़ गया। बुद्ध को भी अनेक स्थानों

पर बौद्ध-साहित्य में हाथी कहा गया है। दक्षिण भारत से उपलब्ध एक वृहत् ग्रंथ 'हस्त्यायुर्वेद' में 'हस्तिलीला' विस्तृत रूप में वर्णित है।

इन्द्र का हाथी ऐरावत स्वर्गीय वैभव की विशिष्ट वस्तु है और समुद्र-मथित चौदह रत्नों में से एक है; आकाश गंगा आज भी इन्द्र के हाथी की राह मानी जाती है। हस्ति वर्षाकाल का प्रमुख नक्षत्र भी है। इन सब उदाहरणों से भारतीय चेतना में हाथी का कितना विस्तृत प्रभाव है यह विदित होता है।

हाथी के अवतरण की कथा

हाथी की उत्पत्ति सुवर्ण-गरुड़ के साथ एक ही अंडे से हुई थी। एक इन्द्र का वाहन बना, दूसरा उपेन्द्र का। यह इरावती का पुत्र था। इरावती ब्रह्मा की एक मुख्य नदी है। पंजाब की रानी का भी प्राचीन नाम यही है। इस का अर्थ है जलमयी। जल आदि उत्पत्ति-तत्त्व है यह कमल के प्रसंग में कहा ही जा चुका है। इस प्रकार कमल की तरह मूलतः हाथी का भी जल से सम्बन्ध है। 'मातंगलीला' में इस स्वर्गीय पदार्थ हाथी के भूतल पर अवतरण की एक अत्यन्त रोचक कथा है। ब्रह्मा के दायें हाथ के जिस अंडार्ध से ऐरावत की उत्पत्ति हुई, उसी से आठ हाथी और आठ हथिनियाँ और हुई। इन्हीं में से दिग्गज हुए। भारतीय पौराणिक परम्परा के अनुसार आकाश चादर की तरह है और ये दिशाओं के हाथी (दिक्+गज) उन्हें पैर से दबाये हैं। अगर ये हाथी न हों तो आकाश न जाने कहाँ चला जाय। ऐरावत की पत्नी का नाम 'अभ्रमु' है अर्थात् वह जो बादलों को बाँधे अथवा बुने। कितनी सुन्दर कल्पना है! हाँ, तो कथा इस प्रकार है कि इन क्षीरसागरोत्पन्न श्वेत हाथियों के जो बच्चे थे, उनके पर थे। उन्हीं परों से वे बादलों की तरह आकाश में उड़ते-फिरते थे। एक बार इन परदार बच्चों का एक समूह हिमालय के एक महावृक्ष की महा शाखा पर उतरा। उस वृक्ष के नीचे महामुनि दीर्घतपस अपने शिष्यों को शिक्षा दे रहे थे। सपक्ष गज-शिशुओं की क्रीड़ा से शाखाएँ भारावनत होकर टूट गईं और कुछ शिष्य जीवन से मुक्त हो गये। परिंद हस्ति-शावक कुदक कर दूसरी डाल पर चले गये। ऋषि ने रुष्ट होकर शाप दे डाला कि उनके पर सदा के लिए नष्ट हो जायँ और तब से ऐरावत के वंशज के वे स्वर्गीय पखेरू धरती पर ही रह गये। हाथी तो हाथी, भारतीय पौराणिक परम्परा में तो पहाड़ों के भी पर होते थे।

नारी-कुंजर की कल्पना

गुजराती कृष्ण-काव्य में नारी-कुंजर का रूप मिलता है जो चित्रकारों द्वारा चित्रित भी किया गया है। कृष्ण ने कुंजों में अपने वाहन के लिए हाथी माँगा तो राधा ने सब सखियों के साथ तत्क्षण हाथी का रूप बना लिया । चार सखियाँ पैर बनी, एक सूँड़ और कुंभ, एक पीठ, एक पिछला भाग आदि-आदि । मध्यकाल में तो गजेन्द्र-मोक्ष ने वैष्णव कलाकारों को विशेष प्रेरणा दी । शक्ति के प्रतीक हाथी ने दयार्त भक्त का रूप ग्रहण किया।

लक्ष्मी के साथ हाथी अभिन्न रूप से अंकित किया गया है। गज-लक्ष्मी का उल्लेख पहले हो चुका है। यह हस्ति-युग्म ई० पू० तीसरी शती से आज तक लक्ष्मी की प्रतिमा अथवा चित्र के साथ इसी रूप में सन्नद्ध है । इस का चित्रण शुंड उठा जल डालते हुए रूप में रूढ़ हो गया है। पहली और दूसरी शती की सांची और भरहुत की कला में भी 'कमला' अंकित है।

एलोरा की पर्वत काटकर बनाई हुई शैव गुफाओं में हाथी की सर्वश्रेष्ठ मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं । एक ही पंक्ति में स्तम्भों की जगह पूर्ण हाथी कान और शुंड हिलाते हुए ऐसे लगते हैं, जैसे अभी-अभी चलने लगेंगे । स्वभाव से कल्पनाशील और भावुक भारतीय कला में हाथियों का इतना यथार्थ अंकन देखकर सचमुच आश्चर्य होता है। कैलाशपति का यह मन्दिर लगभग आठवीं शती में निर्मित हुआ था।

बुद्ध के पूर्व-जन्म की कथाओं, जातकों में राजकुमार विश्वान्तर की कथा के अन्तर्गत भी श्वेत हाथी का वर्णन है। ये जातक कथाएँ बौद्ध कला का आलम्बन प्रारम्भ से ही रहीं। अजन्ता के चित्रों में षड्दन्त नामक हाथी का, जो मदोन्मत्त था, बुद्ध के सामीप्य से शान्त हो जाना चित्रित है । भरहुत की बौद्ध मूर्तियों के साथ अभिन्न रूप से हाथी अंकित मिलता है।

पल्लव-काल की दक्षिण की कला में हाथी का विशेष रूप से प्रयोग है। स्तम्भों में, तोरणों में और ऐसे ही अन्य उपयुक्त स्थानों में हाथी अनिवार्य रूप से मिलता है। आज भी दक्षिण हाथी-दाँत की कला के लिए विख्यात है। ऐरावत को कभी-कभी त्रिशुण्डधारी भी बनाया गया है । मोएन-जो-दड़ो की एक सील पर हाथी का चित्र है जो सर्वप्राचीन है।

राजपूत और मुग़ल कला में भी हाथी अनेक रूपों में आया है परन्तु वह या तो केवल फौजी हाथी ही प्रतीत होता है या बादशाह साहब की सवारी-मात्र । इन चित्रणों से कहीं अधिक स्वाभाविक और सुन्दर चित्रण पहले के

अज्ञात कलाकारों द्वारा हुए। जहाँ कहीं भी हाथियों के किसी झुंड का अंकन किया गया है वहाँ इतनी सजीवता आ गयी है कि उसका वर्णन करना कठिन है। बंगाल के पहाड़पुर की खुदाई में प्राप्त हुई हाथियों की मूर्तियों के साथ चूहा भी अंकित है। कौन जाने, गजमुख गणेश का चूहा वाहन देखकर यह गज-मूषक सम्बन्ध स्थापित किया गया हो। भरहुत में बंदरों का दल बाजे-गाजे के साथ एक हाथी को लिये जा रहा है। एक जगह एक मनुष्य का दाँत सँड़सी से उखाड़ा जा रहा है और उसे हाथी खींच रहा है। दक्षिण के सहदेव के रथ के पास हाथी की एक अत्यन्त विशाल मूर्ति है। गुजरात के तोरणद्वारों में भी हाथी का बहुत प्रयोग है।

हंस

हंस ब्रह्मा के वाहन के रूप में अत्यन्त प्रसिद्ध है। लगभग सभी प्रमुख भारतीय देवता सवाहन हैं। यह वाहन भी एक प्रकार के प्रतीक हैं। देवता की कल्पना के आधार पर ही उसके वाहन की कल्पना की गई होगी। जिस प्रकार वर्षा के देवता इन्द्र के साथ हाथी की अनुरूपता है और दुष्टदलनी देवी के साथ सिंह की, उसी प्रकार आदि वेदज्ञ ब्रह्मा के साथ हंस की भी। रूढ़ि के अनुसार हंस नीरक्षीर-विवेकी है अतः विशुद्ध ज्ञान का प्रतीक है। हंस आत्मा को कहते हैं। आत्मा मुक्ति है और हंस भी मुक्ता चुगता है। हंस श्वेत है, आत्मा निर्विकार, निर्मल। शब्दार्थ की दृष्टि से हंस सूर्य का भी नाम है। सूर्य भी तो 'नील-नभत्सर का हंस' ही है। पहुँचे हुए साधु को हंस अथवा परमहंस कहते हैं जो हंस के और ज्ञान के अभिन्न सम्बन्ध की पुष्टि करता है। मार्कण्डेय मुनि को भगवान के विराट् रूप का दर्शन हंस के रूप में हुआ था। हंस की गति विराट् पुरुष की तरह जल थल आकाश तीनों में है। वह स्वभाव से आकाशचारी होने के नाते ऊर्ध्वगमन का प्रतीक भी है। वर्षा के आगमन से पहले तक वह समतल मैदानों में विचरण करता है, पर वर्षारम्भ होते ही हिमाच्छादित पर्वतों में स्थित जलाशयों में शरण लेता है। मानसरोवर नामक मणिप्रसूता झील हंस से अभिन्न है। हंस की संगीतमयता उसकी एक मुख्य विशेषता है। निश्चिन्त, शब्द को आरोह-अवरोह से तरंगायित करने वाला यह पक्षी विस्तार, सौन्दर्य, रस, अमरता और व्यापकता का भी अर्थ धारण किये है। जिस क्रौंच पक्षी के वध से आदि-काव्य का स्रोत फूटा वह भी एक प्रकार का हंस ही है। दमयन्ती और हंस कला का विषय रहा ही है। काव्य की अधिष्ठात्री सरस्वती देवी का वाहन भी

खजुराहो में उत्कीर्ण एक हंस-युग्म जो मोतियों की माला चोंच से पकड़े हुए है। एक ओर हाथी और दूसरी ओर सिंह की आकृति बनी है।

पैतृक सम्बन्ध के कारण हंस ही है; क्योंकि वे ब्रह्मा की पुत्री और प्रेयसी दोनों ही हैं, इसलिए शायद सितकेश विधाता ने अपनी सवारी नज़र कर दी। जो हो, भारतीय मूर्ति और चित्रकला में न ब्रह्मा का ही अधिक अंकन हुआ है और न उनकी पुत्री का ही। यों हंस का चित्रण बहुत हुआ है। कमल-भक्षण करते हुए हंस का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह पहाड़पुर से प्राप्त हुई सामग्री में मिला और उसी में दूसरे स्थान पर अपने बच्चे को दाना खिलाते हुए हंस का भी चित्रण है। हंस की ग्रीवा-भंगी में वह शालीनता है, जो भारतीयता का गौरव है और मुद्रा में वह गम्भीरता जो एक ज्ञान के प्रतीक में होनी चाहिए। जहाँ तक हंस की गति का सम्बन्ध है वह काव्य की ही वस्तु है; क्योंकि उसका प्रदर्शन चित्र आर मूर्ति की स्थिर कला में असम्भव है। काव्य में हंस शृंगार का प्रतीक है और उसकी व्यंजना है नायिका की मंथर गति।

एक स्थान पर एक हंस का अत्यन्त स्वाभाविक मुद्रा में चित्रण किया गया है। लम्बी-पतली गरदन को घुमा कर पीठ के परों में अपनी चोंच छिपाये है। कमल को हंस भी तोड़ता है और हाथी भी। एक के तोड़ने में स्त्रीत्व है, कोमलता है; दूसरे के तोड़ने में पौरुष है, कठोरता है। हंस और हाथी का कमल के साथ जहाँ कहीं भी चित्रण हुआ है भारतीय कलाकार सदा इस कोमलता और कठोरता के प्रति सजग है।

आधुनिक काल की कृतियों में हंस का पहले की अपेक्षा अधिक प्रयोग मिलता है।

मौर्य-काल की लौरियां-नन्दगढ़ की चौकी पर थोड़े उभारदार उड़ते हंस बने हैं। कुछ स्तम्भों के दरगाहों पर एक विशेष प्रकार के कमल-भक्षी हंस बने हैं। कुछ स्तम्भों के दरगाहों पर एक विशेष प्रकार के कमल, कभी हंस, कभी हाथी और कभी यक्षिणी आदि स्थित मिलते हैं। ये शिल्प शुंगकालीन या उससे कुछ पहले के हैं।

भारतीय शिल्प-कला की त्रिवेणी

भारत के कला-गौरव की इस त्रिवेणी के रूपक को यदि कुछ और निखार दिया जाय तो अजंता की पावनता में गंगा, एलोरा की गंभीरता में यमुना और एलीफैण्टा की सूक्ष्मता तथा सुदूर स्थिति में सरस्वती के दर्शन किये जा सकते हैं। भौगोलिकतया भी अजन्ता, एलोरा इतने समीप हैं कि लगता है जैसे कला की भागीरथी और कालिंदी भारत के उदर के समीप एक नये कला-प्रयाग, नये सौन्दर्य-तीर्थराज का निर्माण करके फिर मिल गयीं । एलीफैण्टा इस त्रयी की महानता में अपने समुद्र-स्थित होने के कारण वैसा ही परोक्ष सत्य है जैसे संगम में सरस्वती। अनेक बार संगम-स्नान करके भी कभी वैकुंठ का सुख न मिला परन्तु इस कला-त्रिवेणी-स्नान ने एक ही बार में मेरी आत्मा के कण-कण, स्पंदन-स्पंदन को पावन कर दिया । आज भी भारत का महान कला-उत्कर्ष जिसे प्रत्यक्ष देखना हो वह इस त्रयी का दर्शन अवश्य करे। अगर कहूँ कि बिना इस कला-सौन्दर्य से परिचय पाये कोई भी भारतवर्ष की आत्मा का आलोक नहीं पा सकता, तो भी अत्युक्ति न होगी ।

कला-जगत् में उपर्युक्त स्थानों को लेकर चर्चा करना कोई नवीन बात नहीं है परन्तु प्रस्तुत प्रयत्न मुख्यतया तुलनात्मक दृष्टि को लेकर किया गया है और जहाँ तक तुलना का प्रश्न है संभव है मेरे प्रयास में कुछ नवीनता हो । 'भारत माता की जय' बोलने वाला व्यक्ति इसलिए जय नहीं बोलता कि वह कोई नवीन स्वर सुना रहा है, वरन् इसलिए बोलता है कि उसमें एक नवीन उल्लास है, एक नवीन पूजा-भाव है । मेरा आलेखन भी कुछ ऐसी ही प्रेरणा से प्रेरित है।

इस त्रयी के विषय में साधारण कला-जिज्ञासु के लिए जितनी भी ज्ञातव्य बातें हैं उनका संक्षिप्त तुलनात्मक विवरण एवं विवेचन यहां अभिप्रेत है।

साथ हो जाते हैं, पर उनकी वास्तविकता कसौटी के अवसरों पर सहज ही प्रकट हो जाती है ।

यहाँ कुछ मूलभूत प्रश्न उठाये जा सकते हैं,——क्या नवीनता, नयापन या 'नया-नये-नयी' का लेबिल साहित्य और कला की श्रेष्ठता का सर्वोपरि मूल्य माना जाना चाहिए ? क्या वह ऐसा है भी, और है तो क्यों ? क्या सांस्कृतिक निष्ठा और परम्परा-पालन से उत्पन्न आत्मविश्वास एवं आत्म-गौरव की भावना से उसे उच्चतर स्थान देना होगा ? क्या 'सिन्सिएरिटी', सामाजिक कल्याण और वास्तव-बोध से उसे अधिक महत्वपूर्ण मानना होगा ? क्या उसके कारण राष्ट्रीय सीमा की स्वर्ण-रेखाओं को पिघला कर बहा देना उचित होगा ? नवीनता के नाम पर परायी, विदेशी जूठन चाटने का कार्य श्रेयस्कर है ? और अंतर्राष्ट्रीय अभिव्यक्ति की मृगमरीचिका के पीछे फेनिलमुख भागने से क्या कुछ भी जीवन-कण हाथ आ सकेंगे ?

सोचने और चिन्तापूर्ण जिज्ञासा व्यक्त करने का अधिकार सभी को है; और यह उसी का एक पहलू है कि एक के बाद एक इतने प्रश्न एक साथ हमारी तत्त्वदर्शिता को चुनौती देने के लिए उमड़ आते हैं। इस सारी चिन्तन प्रणाली में मेरी दृष्टि से एक मौलिक त्रुटि है। वह है नवीनता को कलात्मक अथवा साहित्यिक अभिव्यंजना का अविभाज्य अंग न मानकर उससे विच्छिन्न अथवा पृथक् मानना। दूसरे शब्दों में यह वस्तु और शैली को तत्त्वतः पृथक् मानने के बराबर है जो किसी 'जेनुइन' कला-कृति में न कभी सर्वथा पृथक् होते हैं और न किये ही जा सकते हैं, विवेचना और आलोचना में भले ही उन्हें अलग-अलग निरूपित किया जाय। हर्बर्टरीड ने तो 'आइडियाज़ एण्ड इमेजेज़' नाम से इस विषय पर एक थीसिस ही रच दी है ।

दूसरी मूलभूत त्रुटि वह है जिसकी ओर प्रारम्भिक वाक्यों में संकेत किया जा चुका है अर्थात्, 'वस्तु-तत्त्व की नवीनता' का ही आत्यन्तिक निषेध, 'कुछ नया हो ही नहीं सकता' का उद्घोष। ऐसा मानने वालों को किसी अन्य वस्तु का खंडन करने से पूर्व अप ा और अपने नाम-रूप का खंडन करना चाहिए क्योंकि जब कुछ नया हो ही नहीं सकता तो उन्हें विगत व्यक्तियों से भिन्न इकाई होकर जीवित रहने का भी कोई अधिकार नहीं है। पर प्रत्यक्ष ज्ञान ही इस मान्यता का इतना प्रबल विरोधी है कि विस्तार में जाकर इस धारणा को निर्मूल सिद्ध करने का प्रयत्न व्यर्थ ही दिखाई देता है।

दार्शनिक दृष्टि से मूल-तत्व क्या है इसका सर्व सम्मत निर्णय शायद ही कभी

हो सके परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से विविधता और परिवर्तनशीलता को मान्यता प्रदान किये बिना सारा जीवन झूठा पड़ जाता है। कारण यह है कि वही तो जीवन का स्वभाव है। जीवन की उपलब्धि ही नाम-रूप के देश-काल-जन्य विविध संघातों से होती है। अग्नि क्या है ? यह क्यों और कैसे प्रज्वलित हो उठती है ? यह रहस्य भले ही गहन चिन्तन के बाद भी समझ में न आयें पर उसके एक अंगारे के स्पर्श से उत्पन्न होने वाले ज्वलन का निषेध नहीं किया जा सकता। भ्रामक तर्कों द्वारा नवीनता की सत्ता और सामर्थ्य का निषेध भले ही किया जाय पर उससे उत्पन्न होने वाले भय, क्षोभ, आकर्षण और अनुराग की सत्ता को अप्रमाणित नहीं किया जा सकता।

साहित्य जीवन की शब्दमय व्यंजना है और कला रूपमय। जीवन के स्वाभाविक क्रम-विकास को सहज रूप में न ग्रहण करके उसकी मुक्ति को वर्जनाओं से बाँधने का यत्न किया जाता है तो वह वैसा ही हास्यास्पद हो उठता है जैसे घड़ी की सुई पकड़ कर समय की सक्रिय गति को रोकने का प्रयास। कहते हैं साहित्य और कला का साध्य सौन्दर्य का आस्वादन (ईस्थेटिक एन्ज्वॉयमेन्ट) है।

तब सौन्दर्य क्या है ? शायद रमणीयता का पर्याय ! और रमणीयता ? वह है माघ की सुप्रसिद्ध उक्ति 'क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति ...' के अनुसार प्रतिक्षण नवता की जीवन्त उपलब्धि। भले ही सौन्दर्य की यह अन्तिम और सर्वमान्य परिभाषा न समझी जाय पर जीवन की उपलब्धि का आग्रह अनिवार्यतः नवीनता या नयेपन का सूत्रपात करेगा, इसे समझना कठिन नहीं है। जो जीवन का निर्द्वन्द्व उपासक है, वह नयी उमड़ती हुई धाराओं को देख कर चीत्कार करने के स्थान पर उनका मुक्त हृदय से स्वागत करेगा, पर जो पराजित और मरणोन्मुखी हो गया है उसके मुख की रेखाएँ और उसका कंठ-स्वर दूसरा ही होगा; क्योंकि रेखाएँ और स्वर, कला और साहित्य, हैं तो आखिर मानवीय अंतःकरण की ही अभिव्यक्ति।

वैविध्यपूर्ण वाह्य जगत् का सचेतन, संवेदनशील अन्तर्जगत से सम्बन्ध स्थापित होने पर विविध संस्कारों का बीजारोपण होता है और संस्कारों से ही अन्तःकरण की प्रकृति का निर्माण होता है। फिर कुछ स्थूल माध्यमों को लेकर पुनः यही प्रकृत अन्तःकरण, साहित्य, कला तथा सभ्यता-संस्कृति के अन्य अनेक उपादानों की सृष्टि करता है।

यह मनुष्य जीवन की एक अनिवार्य, अविच्छिन्न, एवं अनाहत प्रक्रिया है। यदि जीवन में नवीनता का कहीं कोई मूल्य नहीं रहेगा तो साहित्य और कला

में भी उसे मूल्य नहीं माना जायेगा। परन्तु जीवन में जब प्रतिपल उसकी सत्ता है तो चित्रकला, कविता आदि के क्षेत्र से उसका निषेध नहीं किया जा सकता। जो ऐसा कहते हैं वे वास्तव में जीवन का ही निषेध करते हैं।

इसके साथ ही शिव और अशिव की समस्या को भी लिया जा सकता है। यदि यह मान कर चला जाय कि जीवन अपने सम्पूर्ण रूप में एक पाप-प्रणाली है, अशिव है, अथवा घृणाभिमुख है, तो उसकी उपलब्धि का हर आवेग, नवीनता के आग्रह का हर आन्दोलन तर्कतः अशिव एवं अनपेक्षित कहा जायेगा। पर जीवन की समग्रता को पाप घोषित कर सकना मनुष्य के लिए संभव नहीं है क्यों कि उसकी व्याप्ति की इतनी सूक्ष्म धाराएँ और सतहें हैं तथा उनका इतना गहन विस्तार है कि उन तक अकेले निस्सम्बल तर्क बुद्धि की पहुँच नहीं हो सकती। 'पापोऽहं पापकर्माहं', किसी भक्त की भाव विगलित वाणी ही हो सकती है, जीवन की अन्तिम वास्तविकता के रूप में उसे ग्रहण नहीं किया जा सकता।

भावना और अभिप्रायों को व्यक्त करने की अद्‌भुत सामर्थ्य रेखाओं और स्वरों में अन्तर्निहित है, यह तथ्य दुरूह भले ही लगे पर अग्राह्य नहीं है। अगणित साहित्यकार हुए पर सबका स्वर वही नहीं है; अनेकानेक कलाकार हुए पर सब की रेखाएँ समान नहीं मिलतीं। देश-विदेश, भाषा-विभाषा, सभी अन्तरों को लाँघ कर यह अन्तर प्रकट हो जाता है। आगे भी रेखाओं और स्वरों की अनन्त संभावनाएँ हैं और रहेंगी। जिन्हें जीवन क्रमशः अपनी स्वाभाविक प्रगति से उपलब्ध करता जायेगा।

यह क्रम अनिवार्य है। ठीक जैसा सूक्ष्म जीवन का स्वरूप है वैसा ही साहित्य और कला का। मानव-संस्कृति का भावी रूप किस ओर प्रवहमान होगा और अभी वह किस ओर प्रवाहित है, यह साहित्य और कला के वर्तमान अभियान से पहचाना जा सकता है। मानवीय संवेदना के सूक्ष्मतम, गहनतम एवं सुदूरव्यापी छोरों का स्पर्श करने के लिए आज की कला-चेतना संकल्प-बद्ध है। वह जीवन की उपलब्धि, उसे सहज दैनन्दिन जटिल कार्य-व्यापारों से पृथक् करके नहीं करती वरन् सीधे-सीधे साहस पूर्वक उसके सामने जाकर उसको उपलब्ध करती है। जीवन के सीधे सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि सारे बाहरी प्रदर्शन-तत्त्व अभिव्यक्ति की मूल प्रक्रिया से छँट गये। दूसरी बात यह भी हुई है कि बाह्य रूपासक्ति की अपेक्षा अब आभ्यन्तरिक, मार्मिक एवं अधिक व्यंजक रूप की खोज कलाकार की प्रधान चिंता हो गयी है।

यहाँ मैं आधुनिक कला के मर्मज्ञ शल्डन चीने के कुछ वाक्य उद्‌धृत करने का

लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ क्योंकि उनसे इस युग की कला की गतिविधि के एक महत्त्वपूर्ण पक्ष पर प्रकाश पड़ता है।

In short, I consider Expressionism to be that movement in art which transfers the emphasis from technical display and imitated surface aspects of nature to creative form; from descriptive and representative truth to intensified emotional expressiveness ; from objective to subjective and abstract formal qualities. The greater expressiveness of this modern art may and usually does arise from three sorts of intensifications : of the essential of structural quality or 'rhythm' of the object as against its outward aspects ; of the artist's subjective emotion of the 'image' emationally conceived out of his passion for absolute (though probably unobtainable) aesthetic form ; and of the essential characterstic of his materials."

—A Primer of Modern Art, p. 166

इस उद्धरण में चीने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक कला की अभिव्यंजनावादी प्रणाली जिसमें ध्यान वाह्य रूपों से हट कर आन्तरिक रचनात्मक अथवा कृतित्त्व मूलक रूप-विधान पर विशेष केन्द्रित रहता है, मुख्यतया तीन प्रकार के 'घनत्व एवं तीव्रताजनक' तत्त्वों से उद्भूत होती है। पहला तत्त्व है, आवयविक संगठन में वाह्य प्राकृतिक रूप की अपेक्षा आन्तरिक लयात्मक रूप। दूसरा है कलाकार की आत्मपरक अनुभूति और उससे आकलित 'रूप' जिसकी निर्मिति (प्रायः अग्राह्य) परम सौन्दर्य की कल्पना के आश्रित होती है। तीसरा तत्त्व कलाकृति के निर्माण में प्रयुक्त माध्यम की मूल प्रकृति को माना जाना चाहिए, जिसका योग कला-कृति की प्रभविष्णुता में अपना स्वतन्त्र महत्त्व रखता है।

आधुनिक कला चेतना चाहे वह साहित्य के क्षेत्र में हो चाहे शिल्प के, चाहे देशी हो चाहे विदेशी, सशक्त से सशक्ततर व्यंजक रूपों, आकारों एवं शब्द-विधानों की खोज में संलग्न है। किन्तु यह संलग्नता वस्तु-तत्त्व की प्रेरणा से सीधे सम्बन्ध रखती है। अतः आज का निर्माण केवल टेकनिकल या शास्त्रीय वृत्ति से उत्पन्न न होकर अभिव्यक्ति की मुक्त एषणाओं से अनुप्रेरित होता है। अपनी अभिव्यंजना-प्रणाली में आज का कलाकार रूढ़ि, परम्परा, रीतिबद्धता (मैनरिज़्म) आदि से मध्यकालीन कलाकार की अपेक्षा कहीं अधिक स्वातन्त्र्य का अनुभव करता है और शायद इसीलिए आज की कलाकृतियों में पुनरावृत्ति की अपेक्षा संवेदनात्मक और रूपात्मक विविधता की अधिक सम्भावना रहती है।

इस आपेक्षिक स्वातन्त्र्य का एक परिणाम यह भी है, जो बहुत श्रेयस्कर नहीं

माना जा सकता, कि कलाकृतियों का गौरव-काल अथवा प्रभाव काल सामान्यतया उतना विस्तृत नहीं रहा है जितना मध्यकाल में दिखायी देता है। आज का जीवन कहीं अधिक त्वराशील हो गया है परिणामतः लोक-रुचि में भी शीघ्रातिशीघ्र परिवर्तन होता रहता है । वास्तव में यह तीव्रगतिशीलता आज की कला की एक समस्या बन गयी है। दर्शक एक वस्तु से पूरी तरह परिचित भी नहीं हो पाता कि नयी वस्तु सामने आ जाती है। धार्मिक आस्था में परिवर्तन प्रायः अपराध गिना जाता है। पर सौन्दर्य-बोध में उसे कभी कभी सहायक तथा आवश्यक तत्त्व भी माना जाता है। आधुनिक कला में अधिकतर सौन्दर्य बोध के अन्तर के कारण ही परिवर्तन शीघ्र होते हैं। मध्यकालीन कला की तरह एक शैली या एक रूढ़ि शताब्दियों तक नहीं चलती जाती। लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि समस्त आधुनिक रचनाएँ क्षणस्थायी होती हैं । इससे यह निष्कर्ष निकालना भी ग़लत होगा कि आधुनिक कला का मूल्य केवल सामयिक होता है और अपने समय से ऊपर उठकर युग-युग तक जीने की सामर्थ्य उसमें नहीं आ पाती। वस्तुतः यह बात आधुनिकता और प्राचीनता से उतना सम्बन्ध नहीं रखती जितना कृतिकार की रचना-क्षमता, अनुभूति की गहराई तथा व्यक्तित्व की विशालता से। यदि यह गुण न होते तो 'रामचरित मानस' आज तक इतना लोकप्रिय न होता।

आधुनिक कलाकारों में ऐसे अनेक हैं जिनकी रचनाओं में स्थायित्व के लक्षण स्पष्ट दिखायी देते हैं । हेनरी मूर, धनराज भगत और राम किंकर बैज आदि मूर्तिकारों की अनेक मूर्तियाँ उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जा सकती हैं। इसी तरह पिकासो, साल्वेदर डाली तथा कोकोश्का जैसे चित्रकारों के कई चित्र दर्शक के चित्त पर ऐसा प्रभाव छोड़ जाते हैं जिसके स्थायित्व में संदेह करना अनुभव से असिद्ध है। साहित्य के क्षेत्र से भी ऐसे बीसों उदाहरण दिये जा सकते हैं पर यहाँ उद्देश्य न उदाहरणों की भरमार करना है और न नामों की सूची गिनाना ; बात तात्त्विक आधार पर उठायी जा रही है और उसे उसी रूप में ग्रहण भी किया जाना चाहिए।

मैं नये के प्रति––चाहे वे स्वर हों या रेखाएँ––असहिष्णुता तथा अनुदारता पूर्ण दृष्टिकोण रखने वालों से वस्तुस्थिति पर गम्भीरता पूर्वक विचार करने का अनुरोध करता हूँ, उपर्युक्त शब्दों के साथ जो अपने में केवल एक संकेत, एक विचार-सूत्र प्रस्तुत करते हैं उनमें न सब समस्याओं का समाधान है न सब प्रश्नों का उत्तर।

कला : संस्कृति

कला के क्षेत्र में एशिया की सांस्कृतिक एकरूपता

भावनापरक एवं संकल्पात्मक होने के कारण कला मानव की साँस्कृतिक चेतना को, धर्म और दर्शन की अपेक्षा अधिक समग्रता के साथ व्यक्त करती है। यही कारण है कि एशिया की आन्तरिक एकता का जितना प्रत्यक्ष प्रमाण कला से उपलब्ध होता है उतना किसी अन्य साधन से नहीं। यह अवश्य है कि वैचारिक एकता को ही कला अभिव्यक्त नहीं करती वरन् वह उससे गंभीरतर आत्मिक एकता को भी व्यक्त करती है।

एशिया की कला को 'प्राच्य कला' की संज्ञा दी जाती है और उसकी विशेषताओं को लक्षित करने के लिए कला के मर्मज्ञ प्रायः उसकी तुलना पाश्चात्य कला से किया करते हैं। प्रारम्भ में यह तुलना विदेशियों द्वारा जापान, चीन, भारत, पर्शिया आदि एशिया के प्रमुख देशों की कलाकृतियों को 'अद्भुत' समझते हुए की गयी और उसमें योरोपीय कला को एशिया की कला से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का भाव भी निहित था। परन्तु उत्तरोत्तर उनका दृष्टिकोण एशिया की श्रेष्ठतम कलाकृतियों के व्यापक सम्पर्क में आने पर, अधिक संतुलित एवं यथार्थोन्मुख होता गया और उन्होंने अनुभव किया कि प्राच्य कला अधिक सूक्ष्म, सशक्त और गंभीर सैद्धान्तिक स्तर पर प्रतिष्ठित है। उसमें बाह्य रूप की अपेक्षा आन्तिरिक रूप की संगति पर विशेष बल दिया जाता है। मानव व्यतित्वके आध्यात्मिक पक्षपर एशियाई धर्म और दर्शन ने, आस्था और चिन्तन के धरातल-पर, जो संस्कार उत्पन्न किये उनका समिष्टगत प्रभाव कला पर पड़ा और इसलिए भौतिक दृष्टि से अनुप्रेरित पाश्चात्य कला से उसका प्रकृतिगत भेद दिखाई देता है। एशिया और योरोप की आधुनिक कला में यह भेद उतना परिलक्षित

नहीं होता जितना कि प्राचीन काल में क्योंकि वर्तमान युग में देश देश के बीच सांस्कृतिक आदान-प्रदान जितना सुगम हो गया है उतना विगत युग में कभी था ही नहीं। पूर्व और पश्चिम के विभेद का अतिक्रमण करके कला के क्षेत्र में भी विश्व-जनीन एकता और अखण्डता का अनुभव किया जाने लगा है। फलतः एशियाके प्रत्येक जागरूक देश के कलाकार नवीन और प्राचीन के बीच संघर्ष की विभिन्न स्थितियों को पार करते हुए संतुलन की नयी स्थिति तक पहुँचने में व्यस्त हैं। प्राचीन और प्राचीन से भी अधिक मध्यकालीन युग में भारत, चीन, जापान, इंडोचीन, इंडोनेशिया, मलाया, जावा आदि के बीच जो एकता के दृढ़ सूत्र मिलते हैं वे आश्चर्यजनक हैं। भारत की स्थिति इसमें विशेष महत्व रखती है क्योंकि वह उस बौद्ध धर्म का उद्गम स्थान है जिसने एक समय एशिया के देशों को चतुर्दिक प्रभावित किया तथा कला को आस्था का समान आधार अर्पित किया। भारत का महत्व इसलिए भी विशेष है कि वह योरोप के समीपवर्ती पूर्वी देशों तथा सुदूर पूर्व के देशों के बीच एक भौगोलिक शृंखला स्थापित करके एशिया की संस्कृति को अखण्डता प्रदान करता है। बौद्ध-धर्म की तरह बौद्ध कला भी एशियाई देशों में अपनी अमिट छाप छोड़ गयी है जो आज भी अपनी सूक्ष्मता, भावमयता और प्रौढ़ता के कारण प्रेरक प्रतीत होती है।

स्तूपों, विहारों, चैत्यों और आरामों को सौन्दर्यमयी उत्कृष्ट कलाकृतियों से अलंकृत करने की भावना बौद्ध कला में इतनी गंभीर रही है कि बौद्ध-धर्म की विरक्तिमूलक साधना भी उसे कुंठित नहीं कर सकी। हुआ यह कि धार्मिक संस्कारों के प्रभाव से कला स्वयं साधना की कोटि में पहुँच गयी और उसमें पवित्रता की आध्यात्मिक भावना व्याप्त हो गयी। यदि ऐसा न हुआ होता तो शताब्दियों में विनिर्मित होने वाले अजंता के भित्त-चित्रों की सृष्टि ही सम्भव न होती। भित्ति चित्रों की जिस शैली और परम्परा का परिचय, बौद्ध जातकों पर आधारित, अजंता के चित्रों से मिलता है, वह सीलोन, पर्शिया, मध्यएशिया, तिब्बत, चीन और जापान तक परिव्याप्त थी, यह पुरातत्त्व के द्वारा प्रमाणित हो चुका है।। अजंता, बाघ, और कन्हेरी की गुफाओं की तरह, अफ़ग़ानिस्तान, चीनी तुर्किस्तान और चीन में भी अनेक गुफाओं की खोज हुई है जिनमें मूर्तिकला, वास्तुकला तथा चित्रकला की त्रिवेणी, स्पष्ट भारतीय प्रभाव के साथ, उपलब्ध होती है। अजंता के साथ वामियान, किज़िल और तुंग-ह्वांग आदि के नाम भित्तिचित्रों की परम्परा से परिचित व्यक्ति को स्वयं ही स्मरण हो आते हैं। चित्रों की तरह स्तूपों के निर्माण की परम्परा भी वृहत्तर भारत तथा

एशिया के अन्य निकटवर्ती देशों तक व्याप्त मिलती है। यह अवश्य है कि साँची, भरहुत, और सारनाथ की स्तूप-कल्पना रूपकार की दृष्टि से नेपाल, तिब्बत, सीलोन, बर्मा और जावा में परिवर्तित होती गयी। छत्रों की संख्या बढ़ गयी, अर्धगोलाकार स्तूप उन्नत और प्रासादाकार हो गया। वोरोवुदुर का स्तूप तो इतना भिन्न हो गया कि यह प्रमाणित करना ही कठिन हो जाता है कि मूलतः स्तूप की कल्पना एक स्रोत से सम्बद्ध है। पैगोडा की रूप-कल्पना भारतीय बौद्ध-मन्दिर की कल्पना से पृथक् प्रतीत होती है पर कला-विशेषज्ञों के अनुसार वह मूलतः असम्बद्ध नहीं है। मूर्तिकला में बुद्ध की महाकाय प्रतिमाओं का निर्माण एशिया के समस्त प्रमुख बौद्ध देशों में हुआ जो उपास्य के महत्त्व एवं गौरव की प्रतिष्ठा की एक जैसी भावना का द्योतक है। बुद्ध-मूर्ति की आदि कल्पना भारतवर्ष में हुई और उसमें जिस आध्यात्मिक शान्ति की अभिव्यक्त विभिन्न मुद्राओं में, भारतीय कलाकारों ने की वह सभी बौद्ध देशों में अनुकरणीय एवं आदर्श मानी गयी। वस्त्र-विन्यास और मुखाकृति तथा अन्य अवयवों का संगठन अवश्य कभी ग्रीक, कभी मंगोल और कभी अन्यान्य प्रभावों से परिवर्तित होता रहा। बुद्ध मूर्ति की कल्पना की आन्तरिक समानता एशिया की कला की अन्तर्वर्तिनी एकता का ज्वलन्त और अकाट्य प्रमाण है। भारतवर्ष में हिन्दू कला और बौद्ध कला स्वभावतः भिन्न नहीं है। वृहत्तर भारत में भी उनकी अभिन्नता विनष्ट नहीं हुई यह भी तथ्य कलागत एकता के विचार को परिपुष्ट करता है। किसी अन्य देश की कला का आदर्श देश विशेष के कलाकारों द्वारा तब तक आत्मसात् और मूर्त नहीं किया जा सकता जब तक दोनों में अन्य प्रकार की एकता न हो। ऐसी एकता वैचारिक और मानसिक ही हो सकती है। एक विद्वान का तो यहाँ तक कहना है कि जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, स्याम तथा बर्मा की कला भारतीय कला के इतिहास ग्रन्थ के खोये हुए पृष्ठों जैसी है। यह बात भारत को गौरवान्वित करने की दृष्टि से ही नहीं कही गयी है, इसमें वस्तुगत यथार्थ भी है। जो सूक्ष्म विचारक हैं वे इस प्रश्न के मूल में भी पैठने का प्रयत्न करते हैं कि यदि वैचारिक और मानसिक एकता को अस्वीकार किया जाय तो क्यों सम्पूर्ण एशिया में बौद्ध-धर्म व्याप्त हो गया और इतने समय तक उसके आध्यात्मिक संस्कार जीवित रहे? इसका उत्तर एशियाकी कला देती है जो इन स्तरों से गहरे उतरकर आत्मिक एकता के स्तर तक जाती है जैसा आरम्भ में निर्देश किया जा चुका है।

भारतीय चित्रकला और चीनी चित्रकला के सिद्धान्तों की तुलना करने पर पारस्परिक एकता का एक प्रमाण उपलब्ध होता है। दोनों देशों के शिल्पाचार्यों ने

षडंगों की कल्पना की है और उसे शास्त्रीय-विधान के रूप में प्रतिष्ठित किया है। रूप-विन्यास के साथ-साथ संयोजन और वर्ण-विन्यास के प्रति दोनों में समान सजगता लक्षित होती है। चीनी चित्रकार अपने तूलिका-कौशल के द्वारा जीवन-को उसकी अखण्ड गतिशीलता में, सूक्ष्म आत्मिक सामञ्जस्य स्थापित करते हुए, एक भावमयी सौन्दर्य चेतना के साथ चित्रित करता है जबकि भारतीय चित्रकार जीवन की स्वाभाविक भाव-मुद्राओं को ग्रहण करते हुए भी पौराणिक संदर्भ को कठिनाई से छोड़ पाता है। चीनी चित्रकार की तरह सर्वथा मुक्त होकर तल्लीनता के साथ वह प्रकृति का आलेखन नहीं करता। सिद्धान्ततः वह भी समस्त दृश्य-जगत में एक ही आंध्यात्मिक सत्ता को परिव्याप्त मानता है परन्तु प्रकृति के प्रत्येक पदार्थ का समान मनोयोग से निरीक्षण करके उसके रूप को चीनी चित्रकार की भाँति वह अंकित नहीं करता। यह केवल वस्तु के स्वभाव को ग्रहण कर के शेष को अपनी कल्पना से भर देने की छूट लेता है और भावनाओं को प्रायः लीला-भाव के रूप में ग्रहण करता है। उसका यह लीला-भाव गज, सिंह और मकर आदि की आकृतियों को चित्रित कर के भी सौम्य ही बना रहता है। भावनाओं को उदात्त और अनुप्रेरित करना उसकी एक मुख्य विशेषता है। चीनी चित्रकार जिस परिपक्व भाव से व्याल (ड्रैगन) को चित्रित करता है वह एशिया के किसी देश की कला में उपलब्ध नहीं होता। भारतीय मकर-चित्रण उसकी छाया मात्र है। ईरानी-फ़ारसी पद्धति का शार्दूल-चित्रण भी उतना शक्तिपूर्ण नहीं लगता। पाश्चात्य कला पारखियों की दृष्टि से एशियाई कला की जो विशेषता सबसे महत्त्वपूर्ण है वह यह कि इसमें प्रकृति का यथातथ्यांकन नहीं होता जैसा आधुनिक कला के प्रेरक सेज़ां से पूर्व रूबेन, रेम्ब्राँ कान्सटेबल, टर्नर आदि करते रहे। प्रभाववादी फ्रेंच कलाकारों में भी प्रकृति को तद्वत अंकित करने का ही आग्रह प्रधान था, परन्तु चीनी और जापानी चित्रकारों ने जिस मूल-चारुत्व और आन्त-रिक सूक्ष्म अनुभूति की संगति के साथ प्रकृति को चित्रित किया है वह योरोप के किसी देश की कला में अप्राप्य है। विदेशी दृष्टि इससे आश्चर्यचकित होती है कि क्यों पर्शिया से लेकर जापान तक सारे एशियाई देशों के प्रकृति चित्रण में छाया और परिपेक्षण (पर्सपेक्टिव) का अभाव है; क्यों जल में प्रतिबिम्ब तक प्रदर्शित नहीं किया जाता। एशियाई कला के प्रतीकात्मक और स्वभाव-प्रधान चित्रण का रहस्य वह कठिनाई से ग्रहण कर पाता है। इसी प्रकार सारी एशियाई कला उसे किसी न किसी रूप में अलंकृति-प्रधान दिखाई देती है। वास्तव में अलंकरण उस लयात्मकता को व्यक्त करता है जो एशिया की कला की

फलक—१५, चित्र—१. महाबुद्ध

फलक—१५, चित्र—२. भरहुत के स्तूप-द्वार पर अंकित मकर

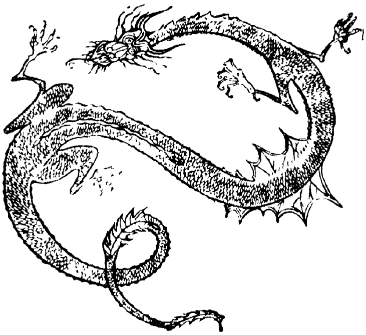

फलक—१५, चित्र—३.

चीनी कला का प्राचीन प्रतीक
व्याल (ड्रैगन)

एक प्रमुख विशेषता है। समस्त एशियाई देशों का चित्रांकन 'रेखा' को रूप का अनिवार्य वाहक मान कर चलता है। भारतीय शास्त्रकारों ने रेखांकन को कलाकार की कुशलता का श्रेष्ठतम प्रतिमान माना है। 'रेखां संशन्त्याचार्याः' किसी काल में योरोपीय कला में रेखा को इतनी महत्ता प्राप्त नहीं हुई। वर्ण विन्यास और चित्र में रिक्त स्थान की व्यवस्था का भी एशिया के कलाकार में अपना पृथक् बोध रहा है।

फ़ारस और ईरान प्रारम्भ में आर्य जाति के संस्कारों से युक्त थे जो प्रतिमा-पूजक नहीं थे। बाद में सेमेटिक जातियों के संस्कार उनमें आये जो 'बुतशिकनी' को पवित्र धार्मिक कर्तव्य मानते थे। परिणाम यह हुआ कि वहाँ पर मानव आकृतियों के चित्रण के स्थान पर अलंकरण और ज्यामितिक रूप-रचना का कला में महत्त्व बढ़ता गया। सेमेटिक संस्कार भारत में भी आये परन्तु यहाँ की 'बुतपरस्ती' 'बुतशिकनी' के द्वारा पराजित नहीं हुई वरन् उसने फ़ारसी कला को मुग़ल कला के रूप में एक नयी दिशा प्रदान की। फ़ारसी कला में व्यक्ति-चित्र का प्रायः अभाव है पर भारत में मुग़ल शैली की एक प्रधान विशेषता ही व्यक्ति-चित्रण है। शिल्प-कौशल का विश्व-विख्यात सीमा-चिह्न ताजमहल ईरानी और भारतीय वास्तुकला का अद्वितीय समिश्रण है। राजपूत और मुग़ल कला-शैलियों की अलंकृत सूक्ष्म रूप-रचना की समानता इस बात की द्योतक है कि अन्ततः सेमेटिक संस्कार भी एशिया की कलागत एकता को विच्छिन्न नहीं कर सके।

मूर्ति-पूजा और भारतीय संस्कृति

मूर्ति-पूजा आर्य जाति की देन न होते हुए भी युगों तक भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रही है। शैव-शाक्त, बौद्ध-जैन, वैष्णव आदि सभी धर्मों में मूर्ति-पूजा धार्मिक उपासना के एक आवश्यक विधान के रूप में स्वीकृत हुई। दार्शनिक सिद्धान्तों में मतभेद होते हुए भी प्रतिमा-पूजन की यह मान्यता भारतीय संस्कृति की अन्तरंग एकता की ओर स्पष्ट संकेत करती है। इस्लाम के अनुयायियों को छोड़ कर भारतवर्ष में आने वाले प्राय: सभी धर्मावलम्बियों ने मूर्तिपूजा को स्वीकार कर लिया। ग्रीक, सिथियन आदि जातियों में तो पहले से ही मूर्ति-पूजा प्रचलित थी।

मूलत: मूर्तियों की पूजा यद्यपि आदिम मानव संस्कृति का अवशेष है तथापि मध्ययुग में उसके तात्विक आधार को शास्त्रीय स्तर पर गंभीरतापूर्वक प्रतिष्ठित किया गया। अन्धविश्वास और धार्मिक जड़ता की परिधि से निकाल कर मूर्ति-उपासना को श्रेष्ठतम आत्म-संस्कार एवं आत्मोन्नयन का आधार बनाया गया। अमूर्त तत्त्व का चिंतन-मनन हो सकता है परन्तु उसका भावात्मक ग्रहण संभव नहीं है अतएव मध्यकालीन मनीषी ने घोषणा की—

साधकानां हितार्थाय ब्रह्मणो रूप कल्पना ।

और साथ ही उसके मनोवैज्ञानिक आधार की व्याख्या करते हुए लिखा—

देवो न विद्यते काष्ठे न पाषाणे न मृण्मये ।
देवो हि विद्यते भावे तस्मात् भावो हि कारणम् ॥

प्रत्येक मूर्ति वस्तुत: किसी न किसी भावना का ही प्रतीक होती है। अत: मूर्ति की उपासना का अर्थ होता है उस भावना का समादर। देवता मूर्ति में नहीं भावना में होता है। उक्त श्लोक में इस सत्य की स्पष्ट उद्घोषणा इस बात का प्रमाण है कि प्रतिमा-पूजन के विधान में भारतीय मनीषी की दृष्टि पर्याप्त गंभीर एवं तात्त्विक रही है। 'प्रतीक' (Symbol) शब्द से जिस अर्थ का बोध होता है मूर्ति-पूजा उसीका परिविस्तार है। प्रतीक को मूल-वस्तु से एक-रूप करके

उसकी भावात्मक उपलब्धि करना मूर्ति-पूजा का मुख्य लक्ष्य रहा है इसके लिए शास्त्रों में प्राण-प्रतिष्ठा का विधान किया गया है। जिस मूर्ति में शास्त्रोक्त-विधि से प्राण-प्रतिष्ठा नहीं की गयी वह सौन्दर्य की वस्तु भले ही मानी जाय पूजनीय नहीं कही जा सकती। प्राण-प्रतिष्ठा का अभिप्राय है मूर्ति को जड़ के स्थान पर चेतन मानना। इसी पृष्ठभूमि में देखने पर ज्ञात होता है कि मूर्ति-पूजा जड़-वस्तु की उपासना की द्योतक न होकर चैतन्य की प्रतिष्ठा का उत्कृष्ट साधन रही है।

ऐतिहासिक दृष्टि से मूर्ति-पूजा का प्रमाण भारतवर्ष में सिन्धुघाटी-सभ्यता में निर्विवाद रूप से उपलब्ध होता है। उत्खनन से जिन मूर्तियों की प्राप्ति हुई वे इस बात को सिद्ध करती हैं कि मातृदेवी की उपासना ईसवी सन् से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व भारत में प्रचलित थी। प्रजनन प्रतीकों की पूजा का प्रमाण भारत और भारतेतर देशों में व्यापक रूप से मिला है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि शिव-शक्ति की उपासना इसी का विकसित रूप है। फ़ारसी भाषा में मूर्ति के लिए 'बुत' शब्द का प्रयोग होता है जो 'बुद्ध' का अप्रभंश रूप है। इससे यह निष्कर्ष निकाला गया है कि ईरान और फ़ारस में कदाचित् पहले मूर्ति-पूजा प्रचलित नहीं थी। जिन मूर्तियों से वहाँ के लोग सर्वप्रथम परिचित हुए वह बुद्ध-मूर्ति ही थी। अंग्रेज विद्वानों ने बुद्ध-मूर्ति के निर्माण का श्रेय ग्रीक-कला से प्रभावित गांधार-कला को दिया परन्तु अब यह निश्चित रूप से मान लिया गया कि मथुरा-कला में गांधार-कला से पूर्व नहीं तो साथ-साथ स्वतंत्र रीति से बुद्ध-मूर्ति का निर्माण हुआ। बौद्ध-धर्म में पहले बुद्ध-मूर्ति नहीं पूजी जाती थी। उसके स्थान पर कुछ विशेष चिह्नों द्वारा प्रतीक रूप में बुद्ध की पूजा होती थी। बुद्ध मूर्ति का विकास ईसवी सन् के आसपास आरंभ हुआ, साँची का स्तूप इस तथ्य को प्रमाणित करता है। उसमें कहीं भी बुद्ध-मूर्ति उत्कीर्ण नहीं मिलती। उसका आविर्भाव लगभग दो सहस्राब्दी पूर्व हुआ पर इसका अर्थ यह नहीं है कि उससे पूर्व मूर्ति-पूजा किसी भी रूप में प्रचलित नहीं थी। इधर खुदाई से विविध प्रकार की इतनी मृण्मूर्तियाँ मिली हैं कि भारतीय मूर्ति-पूजा के विकास-क्रम के रिक्त स्थानों की पर्याप्त पूर्ति उनके द्वारा की जा सकती है। ऐसी भी बहुत सी मृण्मूर्तियाँ मिली हैं जिनका उपयोग पूजा-कार्य में नहीं होता था। वे केवल क्रीड़ा, अलंकरण अथवा शिल्प-सौन्दर्य-प्रदर्शन के भाव से रची जाती थीं। आधुनिक मूर्तिकला में मूर्तियों का निर्माण पूजा-भाव से न होकर कला-भाव से ही होता है। प्राचीन भारत में कला-भाव पूजा-भाव का विरोधी अथवा उससे पृथक् नहीं था। पूजनीय मूर्ति, पूजनीय ही नहीं, एक श्रेष्ठ कलाकृति भी होती थी। ह्रास-युग में कला-भाव

क्षति-ग्रस्त हो गया। मूर्तिकला अथवा स्थापत्य के शास्त्र-ग्रन्थों में प्रतिमा निर्माण का विधान करते हुए पूजा-भाव का बराबर ध्यान रक्खा गया है। शिल्पी को यह ज्ञात रहता था कि देव-प्रतिमा की रचना वह मन्दिर में पूजनार्थ कर रहा और यजमान भी उसकी स्थापना अपने परलोक तथा लोक के सामूहिक कल्याण के लिए करता था। प्रतिमा विकृत अथवा सदोष न रची जाय इसके लिए शास्त्रकार ने अनेक आधिदैविक बाधाओं की संभावना से शिल्पी तथा यजमान दोनों को सचेत किया है। 'प्रतिमामानलक्षणम्' के अनुसार—

अशास्त्रेण मुखं कृत्वा यजमानो विनश्यति

'मयशास्त्र' का कहना है—

प्रतिमा निम्नवदना यदि शिल्पी विनश्यति

अभिप्राय यह है कि शास्त्रोक्त विधि से सांगोपांग पूर्ण प्रतिमा का निर्माण न करने से कभी शिल्पी, कभी यजमान और कभी लोक सभी का नाश संभव है। 'शुक्रनीति' में लिखा है कि अंगहीन प्रतिमा स्वामी को और अधिकांगी मूर्ति शिल्पी को नष्ट करती है। कृश प्रतिमा दुर्भिक्षकारक होती है तथा स्थूल मूर्ति रोग उत्पन्न करती है यथा—

हीनांगी स्वामिनं हन्ति ह्यविकलांगी च शिल्पिनम्।
कृशा दुर्भिक्षदा नित्यं स्थूला रोगप्रदा सदा ॥ ६६ ॥ अ० ४ ॥

शुक्राचार्य ने—

सात्विकी राजसी देव प्रतिमा तामसी त्रिधा

लिख कर मूर्तियों के सात्विकी, राजसी और तामसी यह तीन भेद बताए हैं। इनका उपासना-भाव से सीधा सम्बन्ध निर्दिष्ट किया जाता है। सात्विकी प्रतिमा ही सात्विक भावों को जागृत करने में सहायक होगी, ऐसी मूर्ति-शास्त्र की निश्चित धारणा है। विष्णुधर्मोत्तरम्, अग्निपुराण, वृहत्संहिता तथा मयवास्तु आदि अनेक ग्रन्थों में पूजा-कार्य के लिए देव-प्रतिमाओं के निर्माण का विधान एवं तत्सम्बन्धी नियमादि का वर्णन मिलता है।

यद्यपि पूजा-भाव से भिन्न मूर्ति का स्वतन्त्र शिल्प-सौन्दर्य-पक्ष हो सकता है तथापि भारतीय कल्पना में मूर्ति सामान्यतया पूजनीय ही मानी गयी है। पूजा भावना ने तो उन पत्थरों को भी पूज्य माना जिन्हें नदी की धार ने चिकना कर दिया और जिनसे मानवाकृति अथवा कला का कोई सम्बन्ध नहीं। मूर्ति-पूजा की भावना ने भारतीय कला को अभूतपूर्व सौन्दर्य, गरिमा और समृद्धि प्रदान की जो उसके अभाव में कदाचित् सम्भव नहीं होती।

प्राचीन साहित्य और कला में गज-लक्ष्मी का निरूपण

लक्ष्मी के मूल में निहित 'लक्ष्म' शब्द प्रारम्भ में कदाचित् अशुभ अर्थ रखता था। परन्तु कालान्तर में उसका अर्थ शुभ माना जाने लगा और लक्ष्मी हर्ष, उल्लास, आनन्द और समृद्धि की देवी के रूप में पूज्य होने लगी। उनके साथ सह-पूजित गणेश भी प्रारम्भ में विघ्नकारक देवता थे और बाद में विघ्नेश रूप में प्रतिष्ठित हुए। विकास परम्परा का सूक्ष्म अवलोकन करने से अनुमान होता है कि लक्ष्मी का सम्बन्ध संभवतः यक्ष-यक्षी-पूजा से रहा होगा। आँबानेरी से प्राप्त मोदकप्रिय गणेश और मदिरापायी कुबेर से युक्त गज-लक्ष्मी की प्रतिमा इसका स्पष्ट संकेत करती है।

पद्मा, पद्मासना, कमला अथवा कमलालया शब्द इस बात के द्योतक हैं कि लक्ष्मी मूलतः जल से उद्‌भूत देवी हैं। भारतीय कला और चिंतन में कमल सौन्दर्य, समृद्धि और उद्भव का सर्वमान्य प्रतीक रहा है। वैदिक कल्पना में नारायण 'सवितृ मण्डलमध्यवर्ती' होकर भी 'सरसिजासन सन्निविष्ट' प्रतीत होते हैं। ब्रह्मा भी, जो सृष्टि के आदि विधाता हैं, कमलासन हैं। वस्तुतः यह सब जल से सृष्टि होने का प्रतीक रूप में प्रत्याख्यान है। लक्ष्मी की सिंधु से उत्पत्ति भी इसी अभिप्राय की पोषक है। विष्णु की दो पत्नियाँ पुराण-प्रसिद्ध हैं, एक लक्ष्मी और दूसरी पृथ्वी। लक्ष्मी के विष्णुपत्नी रूप की प्राचीनता यजुर्वेद की तैत्तरीय संहिता तक जाती है। मूलतः दोनों की कल्पना एक भाव-स्रोत से संभव हो सकती है। पृथ्वी वसुन्धरा है, रत्नगर्भा है तथा कृषि-सभ्यता में सम्पूर्ण समृद्धि का, सूर्य रूपी विष्णु के अतिरिक्त, वह मुख्य आधार है। लगभग वही प्रतीकार्थ लक्ष्मी का भी है। वह श्री है, सम्पूर्ण सौन्दर्य, समृद्धि एवं वैभव

का पुंजीभूत रूप तथा विष्णु की विश्वविमोहिनी सर्वश्रेयस्करी सहधर्मिणी आकर्षण शक्ति।

माता रूप में पृथ्वी की उपासना अति प्राचीन है। महालक्ष्मी के रूप में वैष्णवी मातृशक्ति की पूजन-परम्परा भी किसी प्रकार नवीन नहीं कही जा सकती, क्योंकि मध्यकाल में और उससे बहुत पूर्व भी महिषासुरमर्दिनी के समानान्तर ही गज-लक्ष्मी की मूर्तियाँ प्रभूत संख्या में उपलब्ध होती हैं। शुंग और कुषाण-काल में मध्यदेश में गज-लक्ष्मी के, विविध कलात्मक विन्यासों से युक्त, एक से एक सुन्दर मृत्पट्ट उपलब्ध होते हैं। कहीं-कहीं इनमें गजों का विविध प्रकार से विचित्र संयोजन विशेष दर्शनीय होता है, जैसे कौशाम्बी से प्राप्त लक्ष्मी की विशाल मृण्मूर्ति में। गुप्तकाल तक इनका कला-विन्यास और भी अधिक सूक्ष्म, कोमल तथा अलंकरण-प्रधान होता गया। गुप्त शासक परम भागवत एवं उदार वैष्णव थे। विष्णु के साथ लक्ष्मी की मान्यता उनके शासनकाल में सर्वाधिक प्रचलित हुई, क्योंकि उनकी स्वर्णमुद्राओं के पृष्ठ भाग पर लक्ष्मी की आकृति विशेष महत्त्व के साथ अंकित मिलती है। यक्ष-पूजा-प्रधान मथुरा-क्षेत्र के क्षत्रप हगायश तथा हगान के सिक्कों पर तो अग्रभाव में ही लक्ष्मी अंकित है, गुप्त शासक समुद्रगुप्त ने यूनानी देवी अरदोक्षो के स्थान पर लक्ष्मी को अपनी मुद्राओं में स्थान दिया है। शैली की दृष्टि से ग्रीक-प्रभाव उस काल की मुद्राओं पर सर्वथा स्पष्ट है। लक्ष्मी कमलासन ही नहीं, सिंहवाहिनी होकर भी सिक्कों पर अवतरित हुई है जैसा कि लिच्छवि वंश की मुद्राओं से ज्ञात होता है। कहा जाता है कि कुषाण सिक्कों पर अंकित सिंहासनस्थ 'नाना देवी' को ही भारतीयता के साँचे में ढाल कर सिंहवाहिनी लक्ष्मी का रूप प्रदान किया गया है। किन्तु यह सत्य है कि यह रूप अधिक लोक-प्रचलित न हो सका। गज-लक्ष्मी रूप ही आज भी लोक में मान्य एवं पूज्य समझा जाता है।

लक्ष्मी के साथ गज-युग्म का समावेश किस समय और किस अभिप्राय से हुआ, यह सर्वथा स्पष्ट नहीं है। ऋग्वेदीय सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् में वर्णित श्रीसूक्त की तीसरी ऋचा में लक्ष्मी को 'हस्तिनाद प्रमोदिनीम्' विशेषण से विभूषित किया गया है। गजलक्ष्मी की कल्पना के मूल में इसे ग्रहण किया जा सकता है परन्तु कठिनाई यही है कि यहाँ हस्ति शब्द श्री से कोई विशेष सम्बन्ध रखता हुआ प्रयुक्त नहीं हुआ है। वह 'अश्वपूर्वां' तथा 'रथमध्यां' विशेषणों के साथ सामान्य रूप में आया है। हाथी इन्द्र का वाहन होकर मेघ एवं वर्षा से सम्बद्ध माना जाता रहा होगा, ऐसी कल्पना निराधार नहीं है। आज भी

फलक—१६, चित्र—१.

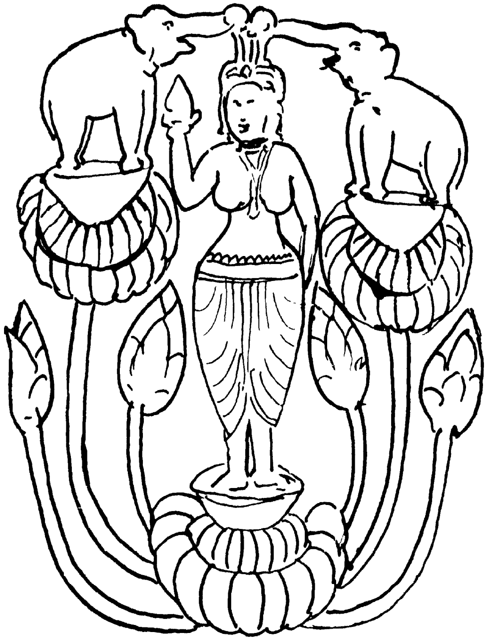

बौधगया की वेष्टिका (रेलिंग) पर उत्कीर्ण शुंगकालीन गजलक्ष्मी की रेखानुकृति।

फलक—१६, चित्र—२.

कौशांबी से प्राप्त गजलक्ष्मी की रेखानुकृति। यह अद्वितीय मृण्मूर्ति जिसमें कलाकार ने गजों को मुकुट में ही समाविष्ट कर दिया है, प्रयाग विश्वविद्यालय के 'कौशांबी संग्रहालय' में प्रदर्शित है।

गज-लक्ष्मी के इधर-उधर चित्रित यह गज-युग्म जलपूर्ण घटों से लक्ष्मी को स्नान कराता हुआ चित्रित किया जाता है। वर्षा का अभिप्राय इससे और भी स्पष्ट हो जाता है। मेरा अपना अनुमान है कि संभवतः यही मूल कल्पना रही होगी। यों विष्णुपुराण में जहाँ सिंधु से लक्ष्मी के उद्भव का वर्णन है वहाँ उनको दिग्गजों द्वारा स्वर्णकलशों से स्नापित कराये जाने का भी वर्णन है जिससे अनुमान किया जा सकता है कि हाथी दिशाओं का प्रतीक है। वर्षा के अर्थ को यह अनुमान बाधित नहीं करता। वर्णन इस प्रकार है—

दिग्गजा हेम पात्रस्थमादाय विमलं जलम् ।
स्नापयाञ्चकिरे देवीं सर्वलोक महेश्वरीम् ॥ १०३ ॥

—विषणपुराण, अंशप्रथम, अध्याय ९

इसी प्रसंग में कुछ आगे इन्द्र द्वारा की गयी लक्ष्मी की स्तुति से आभास मिलता है कि गुप्तकाल में राजा लोग किस भाव से लक्ष्मी की उपासना करते रहे होंगे। यथा—

नमस्ये सर्वलोकानां जननीमब्ज संभवाम् ।
श्रियमुन्निद्रपद्माक्षीं विष्णु वक्ष-स्थलस्थिताम् ॥ ११७॥
पद्मालयां पद्मकरां पद्मपत्रनिभेक्षणाम् ।
वन्दे पद्ममुखीं देवीं पद्मनाभप्रियामहम् ॥ ११८ ॥

इन श्लोकों में केवल पद्मों का उल्लेख है। पद्माश्रित गजों द्वारा वंदित लक्ष्मी का कोई संकेत नहीं है परन्तु श्री सूक्त के साथ तांत्रिकों द्वारा लक्ष्मी का ध्यान करने के लिए जिस श्लोक का आधार ग्रहण किया जाता है उसमें 'इभ-युग्म' का स्पष्ट समावेश है। यथा—

शुभ्राभ्राभेभयुग्मद्वयकरधृत
कुम्भाद्भिरासिच्यमाना ।

यहाँ न केवल गज युग्म को समाविष्ट किया गया है वरन् शुण्डों में धारण किये हुए कुंभों द्वारा जल सिचन कराने की उनकी पूरी मुद्रा वर्णित है।

दीपावली के पर्व में राजा बलि के उपाख्यान के साथ यही लक्ष्मी सर्वत्र पूजित होती है, ऐसा अन्यत्र उल्लेख मिलता है।

बलि राज्ये दीपदानोत्सवा लक्ष्मीः स्थिरा भवेत् ।
दीपैर्नीराजनादत्र सैषा दीपावलिः स्मृतः ॥

मध्यदेश का एक अज्ञात सांस्कृतिक केन्द्र अंगईखेड़ा

मध्यदेश के प्रमुख प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों में हस्तिनापुर, इन्द्रप्रस्थ, कांपिल्य, संकाश्य, अहिच्छत्रा, मथुरा, कान्यकुब्ज, नैमिषारण्य, कौशाम्बी, श्रावस्ती, सारनाथ, काशी और प्रयाग आदि की गणना की जाती है। इस सूची को कितना ही विस्तृत क्यों न किया जाय, 'अंगईखेड़ा' इसमें उपलब्ध नहीं होगा; क्योंकि इतिहास एवं पुरातत्त्व की दृष्टि से उसकी महत्ता अब तक सर्वथा अज्ञात रही है। वहाँ के निवासी भी उसके ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक महत्त्व से प्रायः अपरिचित हैं। जो कुछ परिचय उन्हें है उसका तज़किरा मुज़फ़्फ़र हुसेन ख़ाँ ने अपने 'नामा-ए-मुज़फ़्फ़री' में इस तरह किया है--

"जिस जगह पर अब यह क़स्बा शाहाबाद है, एक क़स्बा 'अंगईखेड़ा' के नाम से बसा था और उसमें ठठेरों की क़ौम आबाद थी .... इस क़स्वए अंगईखेड़ा की आबादी की मुतल्लिक़ हमें कोई तारीख़ हिन्दी नहीं मिली मगर हमारे एक महक्किक़ दोस्त ने, जो क़ौम के हिन्दू थे, एक संसकिरत की पोथी से तर्जुमा करके कुछ बयान लिखाये जो नज्र हाज़िरीन पेश किये जाते हैं: 'रवायत है कि अंगई अस्ल में अंगदगढ़ था। राजा अंगद ने यह बस्ती अपने नाम से बसायी थी। राजा अंगद महाराजा रामचन्दर के सिपहसालार थे .... बाज़ राजा अंगद को महाराजा रामचन्दर की औलाद में भी बताते हैं।"--पृष्ठ १६५-१८०।
इसी विवरण में पाँच प्रसिद्ध कुओं--गंगोदक, समुन्दरखार, सौभद्रक, कोषोदक, और पयोवर्त के अतिरिक्त नर्वदा, वाराहवर्त आदि नौ तीर्थों की गणना भी करायी गयी है। लोक प्रचलित 'आठ कूप, छेत्र नव नर्वदा प्रसिद्ध जामें,

बाँवन मोहल्ले आम जात देस देस को' के रूप में भी ऐसी ही कुछ पूर्व स्मृतियाँ सुरक्षित हैं। 'अंगदागाड़ो' और 'पुष्पावती' भी इनके अन्य नाम बताये जाते हैं। मुज़फ़्फ़र खाँ के अनुसार 'क़स्बा शाहाबाद मुल्के अवध का सबसे बड़ा क़स्बा है।'

यह सारा विवरण अंगईखेड़े को एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक केन्द्र के रूप में मान्यता दिलाने के लिए पूर्णतया अपर्याप्त है। इससे केवल यही संकेत मिलता है कि इसका इतिहास संभवतः प्राचीन है तथा किसी अंगद नाम के राजा से इसका नाम सम्बन्धित है। इसमें संदेह नहीं कि पुराणों में सूर्यवंश के प्रसंग में लक्ष्मण के दो पुत्रों में अंगद का नाम मिलता है—'अंगदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ।' (भागवत ९।११।११)। पर वह संस्कृत की कौन सी पोथी थी जिसमें इसका पूरा इतिहास अंकित था, यह बोध जिज्ञासा को उभार कर मात्र प्रश्न के रूप में रह जाता है। इससे अधिक कुछ हाथ नहीं आता। प्राचीन कहे जाने वाले स्थानों की भारतवर्ष में कमी नहीं है, परन्तु बिना पुरातत्त्व की यथेष्ट सामग्री के किसी भी स्थान के सांस्कृतिक इतिहास का प्रामाणिक पुनर्गठन संभव नहीं है।

मुझे हर्षमिश्रित आश्चर्य हुआ जब अंगईखेड़े से स्तरीय उपलब्धि (Surface findings) के रूप में शुंग-कुषाण और गुप्तकाल की प्रभूत सामग्री उपलब्ध होने लगी। उपलब्धियों ने खोज की वृत्ति को जागृत किया और खोज-वृत्ति ने उपलब्धि को अनेकमुखी समृद्धि प्रदान की। विविध कालों की मृण्मूर्तियाँ, मुद्राएँ, आलिखित इष्टक-खण्ड, N.B.P. से युक्त ओपदार पात्र-खण्ड, मुद्रालेख, ताम्रफलक, पाषाण मूर्तियाँ तथा विभिन्न प्रकार के खण्डित मृत्पात्र आदि सब ने मिलकर पिछले एक डेढ़ वर्ष में मेरे चित्र-कक्ष (Studio) को ज़बरदस्ती संग्रहालय (Museum) का रूप दे दिया। संग्रह की प्रत्येक वस्तु के खोजने-पाने का स्वतन्त्र इतिहास है जो व्यक्तिगत है और जिसका अंगईखेड़े के सांस्कृतिक इतिहास से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ इस दूसरे इतिहास की चर्चा ही अभीष्ट है।

भारतवर्ष का क्रम-बद्ध इतिहास मौर्य-काल से आरंभ होता है। इससे पूर्व हड़प्पा और मोएन-जो-दड़ो के काल से लेकर मौर्यकाल तक का व्यवधान अपेक्षित प्रामाणिक सामग्री के अभाव में पूरी तरह भरा नहीं जा सका है, यद्यपि पुरातत्त्व के विद्वान् इस दिशा में सक्रियतापूर्वक संलग्न हैं। अंगईखेड़े से जो प्राचीन सामग्री उपलब्ध हुई है वह उसके इतिहास को वर्तमान समय से लेकर मौर्यकाल तक प्रायः क्रमबद्ध कर देती है और इस प्रकार ऐतिहासिकता उसे मध्यदेश के किसी

भी पूर्वोक्त सांस्कृतिक केन्द्र के समकक्ष रख देती है। इधर कई ताम्र-अस्त्र (copper implements) भी प्राप्त हुए हैं, जो अंगईखेड़े के इतिहास को सहस्रों वर्ष पीछे खींच ले जाते हैं। विधिवत् उत्खनन (excavation) होने से पूर्व ही जब यह स्थिति दिखायी दे रही है तो वैज्ञानिक रीति से उत्खनित किये जाने पर और भी अप्रत्याशित तथ्य प्रकाश में आने की संभावना स्पष्ट प्रतीत होती है। चौड़ी भारी ईटों से बनी दूर-दूर तक फैली हुई नीवें इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि अंगईखेड़ा वर्तमान समय में भले ही 'खेड़ा' या 'क़स्बा' रह गया हो पर मध्यकाल से पूर्व प्राचीन युग में वह अवश्य ही एक छोटा किन्तु समृद्धिशाली महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक नगर था जिसमें समय-समय पर अनेक धर्मों, जातियों और राजसत्ताओं का प्रभुत्व रहा होगा। कन्नौज, मथुरा, संकिसा, कंपिला और अहिच्छत्रा के समीपस्थ होने के कारण तथा मूर्ति-मुद्राओं की व्यापक समरूपता के कारण यह सहज ही प्रतीत होता है कि इस केन्द्र का सांस्कृतिक सम्बन्ध इन सब से अवश्य रहा होगा। इस प्रतीति को सप्रमाण सिद्ध करने के लिए मध्यदेशीय पुरातत्त्व की सामग्री के विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता है जो इस क्षेत्र के विशेषज्ञों का कार्य है। यहाँ केवल उपलब्ध सामग्री की रूपरेखा तथा उसके महत्त्व का कुछ परिचय मात्र दे देना पर्याप्त है। सामग्री का निरीक्षण-परीक्षण सागर विश्वविद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग के वर्तमान अध्यक्ष तथा मथुरा संग्रहालय के भूतपूर्व क्यूरेटर श्री कृष्णदत्त वाजपेयी और प्रयाग विश्व-विद्यालय के प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष तथा कौशाम्बी उत्खनन के संचालक श्री गोवर्धनराय शर्मा ने अनेक बार सम्मिलित रूप से किया है। मुद्राओं की प्राचीनता एवं तिथि-क्रम में स्व० डॉ० अल्तेकर का मत भी सम्मिलित है। श्री वाजपेयी जी ने भी इस कार्य में यथेष्ट सहायता दी है। अनेक मूर्ति-मुद्राओं की महत्ता का निश्चय करने में डॉ० सतीशचन्द्र काला, डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री रायकृष्णदास तथा श्री ब्रजमोहन व्यास से भी परामर्श लिया गया है। यों संग्रहालयाध्यक्षों के सामने जब कोई नयी सामग्री आती है तो वे उसे अपने संग्रहालय के लिए प्राप्त करने की बात पहले सोचते हैं, उसकी प्राचीनता के निश्चयात्मक निर्धारण का प्रश्न उनकी दृष्टि में प्रायः उतना तात्कालिक नहीं होता, परन्तु मुझे अधिकतर सबसे सद्भावपूर्ण परामर्श ही प्राथमिक रूप से मिला है।

अभिलिखित वस्तुएँ

उपलब्ध सामग्री के इस वर्ग में इष्टक-खंड, सीलें तथा कुछ मुद्राएँ आती हैं।

एक बृहदाकार इष्टक-खंड पर पर्याप्त प्राचीन अवस्था के ब्राह्मी अक्षरों में 'ततिजसो इटाकु' अंकित मिलता है जो ई० पू० प्रथम शती के लगभग का अनुमानित किया गया है। एक सील पर 'चपठस्य' तथा एक अन्य पर 'पुरणिकाया' आलिखित है, जो क्रमशः तीसरी और पाँचवीं शती ईसवी की प्रतीत होती है। ये सीलें वैयक्तिक नामों वाली हैं। दूसरी सील किसी 'पुराणिका' या 'पौराणिका' नामक स्त्री की है। दोनों सीलें मिट्टी की हैं तथा पहली में 'स्वस्तिक' एवं दूसरी में 'त्रिरत्न' का चिह्न लांछित है। तीसरी सील ताँबे की है जिस पर ब्राह्मी अक्षरों में 'वेरतपतिफिलि' उत्कीर्ण है। अक्षराकृति से सील गुप्त-कालीन सिद्ध होती है। इसमें पांचालों का नाग युक्त प्रसिद्ध चिह्न तथा वंश-प्रतीक चन्द्रमा भी अंकित है। गुप्त-काल में संस्कृत का प्रयोग शिष्ट समुदाय में सर्वप्रचलित था। ऐसी दशा में इस सील में प्राकृत का प्रयोग भाषा की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण कहा जायगा। इसके अतिरिक्त कुषाण-काल, उत्तर कुषाण-काल तथा गुप्त-काल की अनेक स्वर्ण एवं ताम्र मुद्राएँ शाहाबाद के स्वर्णकारों के पास सुरक्षित हैं, जिनमें केदार-कुषाण मुद्राओं के अतिरिक्त चन्द्रगुप्त द्वितीय और कुमारगुप्त आदि के सिक्के भी हैं। चाँदी-सोने के उत्तर गुप्त-कालीन तथा मुस्लिम-काल के सिक्के संख्या में कहीं अधिक उपलब्ध हुए हैं पर वे उतने महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

पंचमार्क सिक्के एवं अन्य महत्त्वपूर्ण ताम्र-मुद्राएँ

भारतवर्ष में जितने प्रकार के सिक्के प्राप्त हुए हैं उनमें अभी तक पंचमार्क सिक्के सबसे अधिक प्राचीन माने जाते हैं। जो पंचमार्क मुद्राएँ अंगईखेड़ा से मिली हैं उनका समय डॉ० अल्तेकर ने चौथी से दूसरी शती ई० पू० के बीच निर्धारित किया था। विम कैडफाइसिस (लगभग ४०-७७ ई०) तथा अन्य अनेक क्षत्रपों एवं कुषाण शासकों की ताम्र-मुद्राएँ भी उपलब्ध हुई हैं, जिनका विशेष अध्ययन अभी नहीं किया जा सका है। एक ताम्रमुद्रा संभवतः मौर्य काल की है, जिस पर वृक्ष, स्तम्भ, हाथी आदि प्रसिद्ध चिह्न मुद्रित हैं।

मृण्मूर्तियाँ (Terracittas)

अब तक लगभग साढ़े तीन सौ मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हो चुकी हैं जिनमें

अधिकांश खंडित हैं, नमें से अनेक कौशांबी, झूँसी, राजघाट, अहिच्छत्रा आदि से प्राप्त मूर्तियों के समरूप हैं। मृण्मूर्तियों का कालनिर्धारण शैली-शिल्प, चित्रित-वस्तु, उत्खनन-स्तर आदि के आधार पर किया जाता है, किन्तु अभी तक इसकी कोई निर्भ्रान्त पद्धति नहीं निकल सकी है। इस दिशा में जितना अध्ययन-मनन तथा सामग्री-संचयन अपेक्षित है उतना कदाचित् नहीं हुआ है। तथापि मृण्मूर्तियों की प्राचीनता की परख की ही जाती है और उसी के आधार पर संग्रहालयों में मूर्तियों के काष्ठाधारों पर काल-निर्देश दिया रहता है। कला की दृष्टि से मृण्मूर्तियों में अति साधारण से लेकर अति असाधारण शिल्प-कौशल के इतने स्तर मिलते हैं कि वह भी एक स्वतंत्र अनुशीलन का विषय प्रतीत होता है। अंगईखेड़े से उपलब्ध मृण्मूर्तियों पर न्यूनाधिक यह सभी बातें लागू होती हैं। मथुरा शैली की काली और लाल मिट्टी की शुंग-कुषाण-कालीन मूर्तियों से लेकर गुप्त-काल तक की शैली में निर्मित मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। यह मूर्तियां क्रीड़ा, अलंकरण, पूजन आदि विविध भावों से रची जाती थीं। बालकों के खिलौनों में 'यक्ष-मुख क्रीड़ा-शकट' अद्वितीय स्थान रखता है। दो पहियों वाले मेष, गज आदि की आकृति के ऐसे पशुमुख मृच्छकटक मथुरा, कौशांबी आदि से भी प्राप्त हुए हैं, पर यक्ष आकृति से युक्त इतना कलापूर्ण क्रीड़ा-शकट अभी तक कदाचित् कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं हुआ। इस पर अंकित पुरुषाकृति मथुरा की यक्ष-मूर्तियों से मिलती-जुलती है और यह सिद्ध करती है कि मथुरा-कला का विस्तार इस क्षेत्र तक था। शुंगकालीन 'गज-लक्ष्मी' और मिथुन मूर्तियों के टीकरे भी, जो कई प्रकार के उपलब्ध हुए हैं, इसी प्रभाव का साक्ष्य देते हैं। विशाल मानवकाय (संभवतः बुद्ध-मूर्ति) का एक खंडित पदांश भी मिला है तथा कुछ छोटी बुद्ध-मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

अर्चा-सरोवर (Votive tank) और नैगमेष (Naigmesh)

दुंदुभि-वादक से युक्त यह अर्चा-सरोवर मातृदेवी की उपासना का प्रतीक है। कौशांबी और अहिच्छत्रा से कई अर्चा-सरोवर प्राप्त हुए हैं। वैसा ही एक अंगईखेड़े से मुझे मिला। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने सन् १९४८ ई० में, Ancient India, Vol. iv में काशित अपने लेख 'Terracotta Figurines of Ahichhatra District' में Votive tank के विषय में लिखा है कि यह पार्थियन या इंडोपार्थियन प्रभाव से विनिर्मित है, क्योंकि तक्षशिला में भी यह

पाये गये हैं। अतः लगता है इनका प्रचार ईरानी प्रभाव से गांधार में और गांधार से सारे उत्तर भारत में हुआ। बंगाल में अब भी ऐसे 'यम पुकुर' (Yama Pukur) बना कर कुमारियाँ यम का अर्चन करती हैं। डॉ० अग्रवाल ने अहिच्छत्रा से प्राप्त इन अर्चा-सरों का समय १००-२०० ई० के लगभग निर्धारित किया है। अंगईखेड़े वाले सरोवर (चित्र नं० ५) की आकृति उक्त लेख के साथ प्रकाशित प्लेट नं०XXXVIII से तुलनीय है। दोनों का सादृश्य इस बात को सिद्ध करता है कि उत्तर पांचाल की राजधानी अहिच्छत्रा और उसके दक्षिणी भाग में स्थित 'अंगईखेड़ा' के बीच ईसवी सन् के आसपास समान सांस्कृतिक धारा प्रवाहित हो रही थी। इसका अकाट्य प्रमाण वे मेष-कर्णी मूर्तियाँ हैं जो दोनों स्थानों से मिलती हैं तथा जिन्हें वासुदेवशरण जी ने 'नैगमेष' (Naig-mesh) की संज्ञा प्रदान करते हुए ४५०-६५० ई० के लगभग का माना है। इनका सम्बन्ध उन्होंने मथुरा की 'हरिनैगमेष' मूर्तियों से माना है तथा इन्हें संतानोत्पत्ति से सम्बद्ध देवता विशेष की मूर्तियाँ बताया है। मुझे यह मूर्तियाँ कुछ अधिक प्राचीन प्रतीत होती हैं, क्योंकि अर्चासिरों की तरह इनका स्रोत भी विदेशी ही प्रतीत होता है। शाहाबाद से ही एक चित्तीदार प्रस्तरमूर्ति का शिरोभाग मिला है जो किसी यवन देवता, संभवतः ग्रीक मेष देवता (Pan) का जान पड़ता है, क्योंकि उसकी रचना-शैली यूनानी लगती है और सिर पर घूमे हुए सींग अत्यन्त स्पष्ट हैं। ग्रीवा की ऐसी पुष्टता भारतीय मूर्तियों में कहीं भी नहीं मिलती।। विदेशी वेशभूषा से युक्त इतनी मूर्तियाँ अंगईखेड़ा से मिली हैं कि लगता है कि किसी समय में वह यवन, शक, कुषाण राजाओं से अवश्य अनुशासित रहा होगा। मथुरा तो ईसवी सन् के आसपास लगभग पाँच शताब्दियों तक इनकी प्रभुता का एक प्रमुख केन्द्र बनी रही। मथुरा से श्रावस्ती और अयोध्या जाने वाले मार्ग अंगईखेड़ा या उसके समीपवर्ती भाग से होकर जाते होंगे, इसकी पूर्ण संभावना प्रतीत होती है। अन्यथा किसी असम्पृक्त एकाकी स्थान पर इतने सांस्कृतिक सूत्रों की एकता मिलना संभव नहीं है। इसके अतिरिक्त अंगईखेड़ा गर्रा नदी के वर्तमान तट से कुछ ही मील दूर पर स्थित है और कहा यह जाता है कि कभी यह नदी अंगईखेड़े के बिलकुल पास बहती थी। रेत और नावों के टूटे भाग, जो कभी-कभी पाये जाते हैं, इसकी पुष्टि करते हैं। यह नदी छोटी होते हुए भी उत्तर पांचाल के दक्षिणी भू-भाग तक जाती है, और जलमार्ग से कन्नौज की यात्रा संभव बनाती है। प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्र ऐसे ही जलमार्गों के समीप विकसित हुए, यह सुविदित है। इन

तथ्यों को दृष्टि में रखकर अंगईखेड़ा मथुरा और अहिच्छत्रा आदि से प्राप्त मृण्मूर्तियों की शैली और रूपाकृति के बीच इतनी घनिष्ठ समता एवं संगति की व्याख्या कुछ सरलतापूर्वक की जा सकती है।

आयुधालंकृत शिरोभूषा युक्त देवी--सिनीवाली

मध्यदेश के अनेक प्राचीन सांस्कृतिक केन्द्रों से उत्खनन द्वारा मिट्टी की ऐसी अनेक स्त्री-मूर्तियाँ मिली हैं जिनकी शिरोभूषा अंकुश, परशु आदि विविध आयुधों से अलंकृत मिलती है। अंगईखेड़े से ऐसे दो टीकरे अभी तक मिले हैं। दोनों की रचनाशैली भिन्न है, किन्तु मूर्तरूप एक ही है (चित्र नं० ६)। अभी हाल ही में एक नींव की खुदाई करते समय कौशांबी में, बलिपात्र के समीपस्थ, ऐसी ही मूर्ति मिली है जिसका प्राचीन संदर्भ श्री गोवर्धनराय शर्मा को तैत्तरीय संहिता में 'सिनीवाली, सुकुरीरा, सुकपर्दा स्वौपशा' के रूप में मिला। 'सिनीवाली' शब्द मृण्मयी देवी के अर्थ में ऋग्वेद में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है और 'मोनियर विलियम्स' में इस शब्द की व्युत्पत्ति संदिग्ध मानी गयी है। 'सुकपर्दा' विशेषण स्पष्ट रूप से इस विचित्र प्रकार की शिरोभूषा की ओर इंगित करता है। केशों का आयुध रूप में विशेष अलंकरण जिस मृण्मूर्ति में मिलता है वह 'सुकपर्दा, सिनीवाली' ही है, अब यह प्रायः असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया जाएगा। कदाचित् यह देवी किसी आदिम अथवा आगत अनार्य जाति की उपास्य रही होगी—इसीलिए 'सिनीवाली' शब्द की संस्कृत व्युत्पत्ति नहीं मिलती। मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशांबी आदि की तरह अंगईखेड़े में भी इसकी उपासना की परम्परा पहुँची थी यह वास्तव में रोचक एवं महत्त्वपूर्ण तथ्य है।

प्राप्त सामग्री का इससे अधिक परिचय देना इस लेख की सीमा में संभव नहीं है। अंत में ज़िला हरदोई, जिसमें अंगईखेड़ा यानी आँझी-शाहाबाद स्थित है, के पुरातत्त्वपरक सर्वेक्षण की रिपोर्ट (Archaeological Survey of India, New Series, Vol. II, N. W.P. and Oudh, Vol. II pp. 277-283) की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए यह निवेदन करना चाहता हूँ कि सारा हरदोई ज़िला डीहों और खेड़ों से भरा हुआ है, जिसमें कहीं भी खुदाई का विधिवत् कार्य अभी नहीं हुआ है। सर्वेक्षणकर्त्ता को हरदोई से इंडो-सिथियन सिक्कों के मिलने की सूचना थी, परन्तु शाहाबाद के पुरातत्त्व विषयक महत्त्व का विशेष उल्लेख उसने कोई नहीं दिया है। चन्द्रवंशी हैहय क्षत्री ठठेरों को पराजित करके वर्तमान

फलक—१७

चित्र नं० १—श्रंगईखेड़े का दक्षिणाभिमुख भाग, इसके खुदे हुए श्रंश से श्रनेक मृण्मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं ।

चित्र नं० २—श्रंगईखेड़े के दक्षिणाभिमुख भाग से सर्वप्रथम प्राप्त कुषाणकालीन स्त्री-मृण्मूर्ति ।

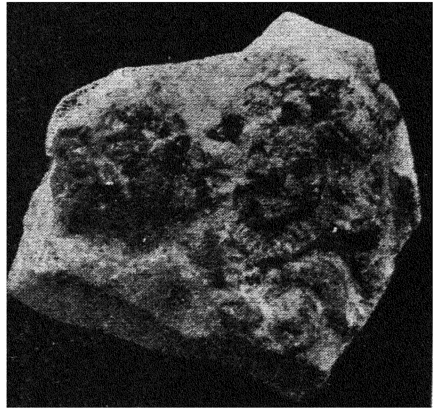

चित्र नं० ३—श्रंगईखेड़े से प्राप्त शुंगकालीन मिट्टी की मिथुन-मूर्ति ।

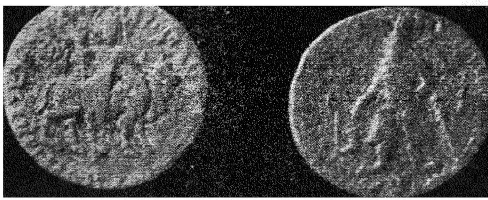

चित्र नं० ८—श्रंगखेड़े से प्राप्त विमकैडिफाइसिस का ताँबे का सिक्का—समय लगभग ४० से ७७ ई० ।

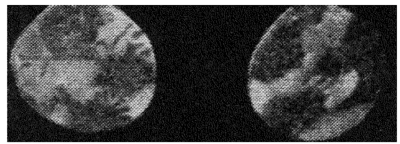

चित्र नं० ७—श्रंगईखेड़े से प्राप्त एक पंचमार्क सिक्का । समय : लगभग ४०० ई० पू० ।

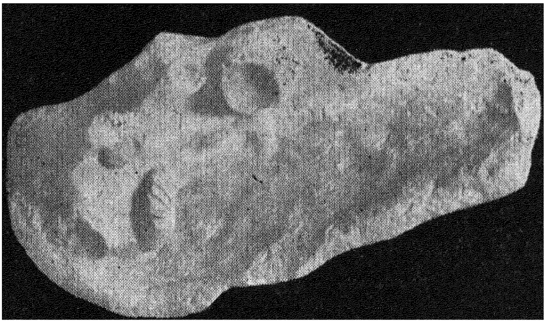

चित्र नं० ५—अंगईखेड़े से प्राप्त अर्चा-सरोवर (Votive Tank) का खंडित अंश। पहली-दूसरी शती ई०।

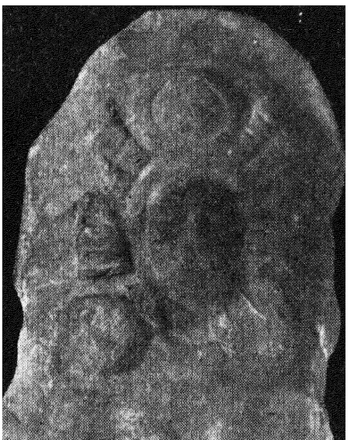

चित्र नं० ६—अंगईखेड़े से प्राप्त आयुधालंकृत शिरोभषायुक्त देवी 'सिनीवाली' की मृण्मूर्ति। शुंग काल।

चित्र नं० ९—अंगईखेड़े से प्राप्त कुषाणकालीन पुरुष मृण्मूर्ति का शिरोभाग।

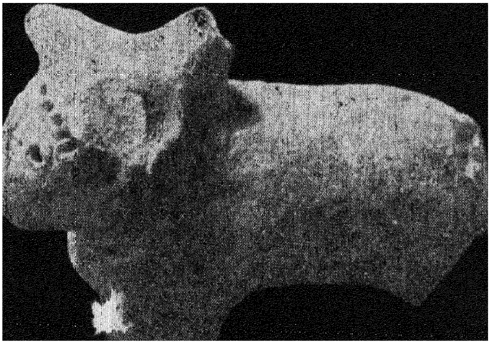

चित्र नं० १०—अंगईखेड़े से प्राप्त अनेक कुषाणकालीन मिट्टी के खिलौनों में से एक टूटा हुआ खिलौना। (गाय)।

चित्र नं० ४—अंगईखेड़े से प्राप्त कुषाणकालीन यक्षमुख क्रीड़ा-शकट।

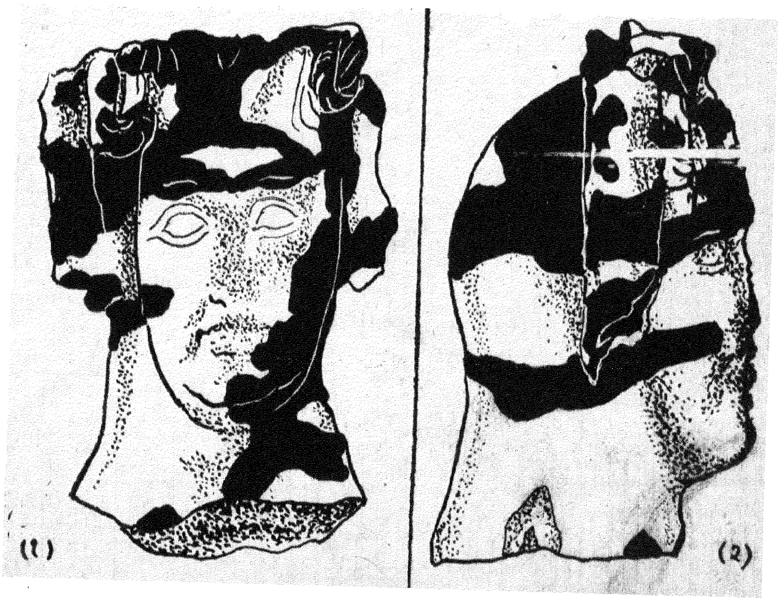

(१) सन्मुख (२) पार्श्व

चित्र नं० १२—अंगईखेड़े से प्राप्त बड़ी काली चित्तियों वाले पत्थर की मूर्ति का शिरोभाग जो ग्रीक मेष देवता (Pan) का सा प्रतीत होता है। समय : कुषाण काल या उससे कुछ पूर्व।

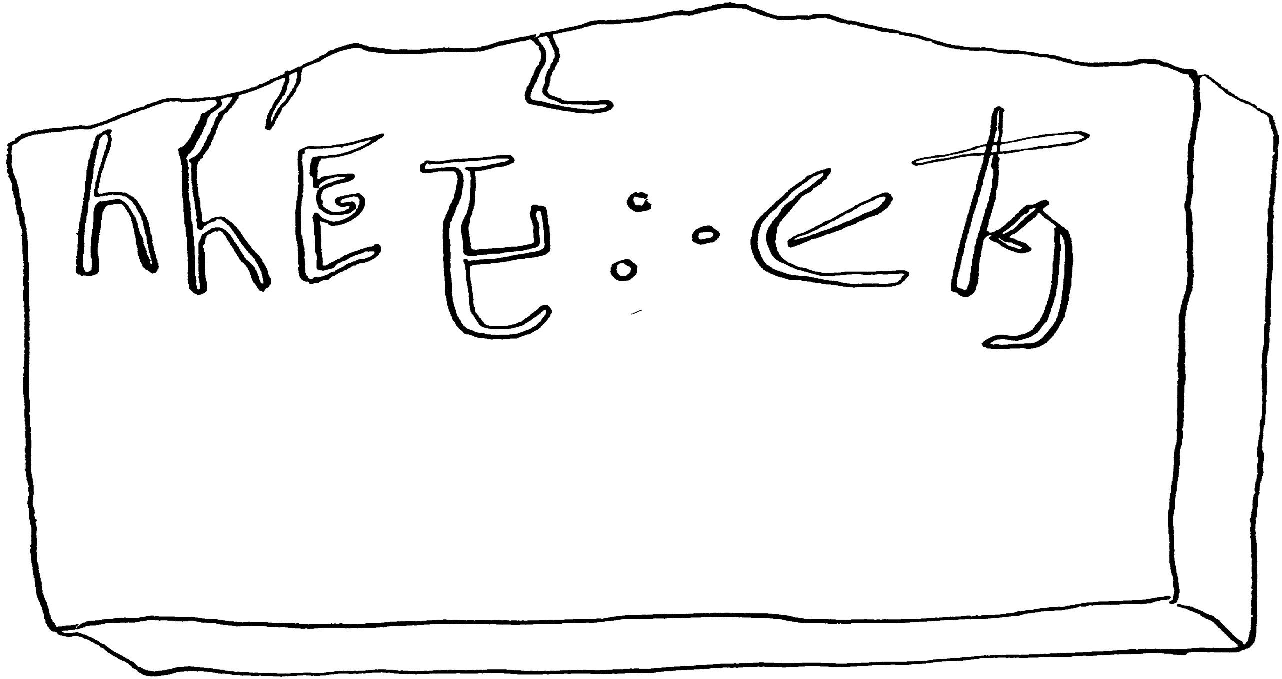

चित्र ११—अंगईखेड़े की पुरानी नींव से प्राप्त ईंट पर अंकित ब्राह्मी अक्षर 'ततिजसो इटाकु' जो अपनी आकृति से ई० पू० प्रथम शती से अधिक प्राचीन प्रतीत होते हैं।

शाहाबाद को सन् १६७७ ई० में अंगईखेड़े के पास नवाब दिलेर खाँ ने बसाया, यही ऐतिहासिक बात उसमें मुख्य रूप से उल्लिखित है। 'फूलमती देवी' के 'थान' की चैत्य जैसी आकृति के आधार पर उसके बौद्ध परम्परा से उद्भूत होने का अनुमान अवश्य लगाया गया है।

अभी तक 'अंगदी' या 'अंगई' में निहित 'अंगद' शब्द का ऐतिहासिक संदर्भ स्पष्ट नहीं हो पाया है। संभव है, 'आँझी' शब्द भी मूलतः उसी से सम्बद्ध हो जिससे 'अंगई'। पौराणिकतया जैसे मथुरा से शत्रुघ्न का सम्बन्ध माना जाता है उसी प्रकार लोक विश्वास के आधार पर लक्ष्मण के पुत्र अंगद से इसका सम्बन्ध तब तक स्वीकार किया जा सकता है जब तक कोई दूसरी स्पष्ट ऐतिहासिक व्याख्या न की जा सके।

पूछा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य, कविता और चित्रकला को छोड़कर पुरातत्व के इस बीहड़ बन में मैं कहाँ आकर भटक गया तो उत्तर यह है कि प्रेम में क्या नहीं करना पड़ता। शाहाबाद मेरी जन्मभूमि जो है—स्वर्गादपि गरीयसी।

बदलती हुई मान्यताएँ और कला

प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक कला सदैव मानव संस्कृति का एक अविभाज्य अंग रही है। कला के क्षेत्र में बदलती हुई मान्यताओं के प्रश्न पर सही परिप्रेक्ष्य में विचार करना संभव न होगा यदि कला के व्यापक महत्त्व की इस एक सूत्रता को उपेक्षित छोड़ दिया जाय साथ ही यह भी स्मरणीय है कि कला मान्यताओं से ही प्रतिफलित नहीं होती, उसका मूल उत्स संवेदनशील मानवीय चेतना है जिसका स्तर मान्यताओं वाले स्तर की अपेक्षा कहीं अधिक गहरा और स्थायी है। मान्यताएँ भी कुछ ऐसी होती हैं जिनका कला के सौंदर्य बोध से सीधा सम्बन्ध होता है और कुछ ऐसी जो जीवन मात्र से सम्बद्ध होने के नाते कला से भी सम्बद्ध मान ली जाती हैं। प्रत्येक मान्यता विभिन्न स्थितियों में अनुभव की एकरूपता अथवा नवीन सत्य के साक्षात्कार का प्रमाण होती है। बिना नवीन सत्य की उपलब्धि के या बिना मौलिक अनुभव-भेद के केवल यांत्रिक रूप से मान्यताएँ नहीं बदलतीं। कला मानवीय अनुभूति से अनुप्रेरित सजीव सौन्दर्यात्मक सृजन है। उसकी प्रक्रिया और भी अधिक सूक्ष्म तथा अयान्त्रिक है, अतएव मान्यताएँ काफ़ी सीझने के बाद ही उस पर स्थायी प्रभाव छोड़ पाती हैं।

प्राचीन भारतीय चिंतकों ने जीवन का चरम लक्ष्य आनन्द की उपलब्धि माना फलतः साहित्य और कला को भी उन्होंने इसी दृष्टिकोण से देखा और इनका चरम उद्देश्य भी आनन्द ही निश्चित किया। काव्य में रस की प्रतिष्ठा इसीलिए हुई। काव्यानंद और ब्रह्मानंद के सहोदरत्व की बात सुविदित है। भारतीय दृष्टिकोण से कला यद्यपि काव्य से भिन्न है तथापि उसका उद्देश्य भी आनन्द ही है—आनन्द ही नहीं, परमानन्द। 'शिवस्वरूपविमर्शिनी' में क्षेमराज ने वास्तविक कला का लक्षण बताते हुए लिखा है—

विश्रान्तिर्यस्यसंभोगे सा कला न कलामता।
लीयन्ते परमानन्दे ययात्मा सा परा कला॥

अर्थात् जिस कला के आस्वाद से केवल विश्रान्ति उत्पन्न हो वह कला मर्मज्ञों की दृष्टि से कला कहलाने योग्य नहीं है। वास्तविक कला वह है जो दर्शक के चित्त को परमानन्द में लीन कर दे। अनुकरण, आत्माभिव्यंजन, सौन्दर्यात्म सृजन, कौशल-प्रदर्शन अथवा इच्छा का काल्पनिक व्यक्तीकरण इनमें से जिस रूप में भी कला को व्याख्यायित किया जाये प्राचीन भारतीय मत के अनुसार उसका अंतिम लक्ष्य आनन्द ही होगा। कला की आनन्दवादी व्याख्या अनेक पाश्चात्य मनीषियों ने भी की है परन्तु उनके 'प्लेज़र' की कल्पना 'आनन्द' की आध्यात्मिक कल्पना के समान व्यवस्थित और गहरी नहीं है।

समस्त प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय कला प्रायः इसी उद्देश्य से प्रेरित है तथा अपनी प्रकृति में अतिरंजनात्मक और आदर्शवादी है। उसमें लयात्मकता की प्रधानता है।

मध्यकालीन कला या तो धर्माश्रित होकर विकसित हुई या राजाश्रित। लोकाश्रित कला की भी सत्ता बराबर रही है और उसका प्रभाव भी आभिजात्य कला पर पड़ता रहा है, परन्तु उसे वैसी मान्यता और गौरव कभी प्राप्त नहीं हुआ जैसा आधुनिक युग में हो रहा है। ईश्वर और राजा के समक्ष लोक-साधारण मनुष्य की महत्ता थी ही कितनी, ऐसी दशा में धर्म और राजसत्ता का कला के क्षेत्र में नियामक होना समझ में आने वाली बात है। धर्माश्रित कला दार्शनिक और साम्प्रदायिक सीमाओं से ग्रस्त दिखायी देती है तथापि उसमें भावात्मक तरलता, पवित्रता और उदारता के गुण स्पष्ट लक्षित होते हैं। जहाँ धर्म का रूप विकृत और ह्रासोन्मुखी हुआ वहाँ कलाकृतियाँ भी निर्जीव होने लगीं क्योंकि धर्म कला-चेतना को संगठित और प्रेरित करने वाली एक महान शक्ति रहा है। मध्यकालीन कलाकार आत्मदान पूर्वक धर्माश्रय ग्रहण करने पर नैतिकता और मानवजीवन की सार्थकता से सम्बद्ध उन प्रश्नों के दंश से मुक्ति पा लेते थे जिनसे आधुनिक कलाकार को अनिवार्य रूप से जूझना पड़ता है।

राजाश्रित कला में विलासिता, अलंकरण, चमत्कार तथा पाण्डित्य प्रदर्शन के तत्त्व स्वाभाविक रूप से समाविष्ट दिखायी देते हैं क्यों कि राजसी जीवन से कलाकार का प्रभावित होना अनिवार्य था और यह तत्त्व उसी के परिचायक हैं। धार्मिक कला जैसे धर्म की अनुगामिनी रही, राजसी कला वैसे ही धन की चेरी बनती गयी। कुछ समर्थ और सचेतन कलाकारों को छोड़ कर अधिकांश कलाकार कला के वास्तविक सौन्दर्यपरक मूल्यों की रक्षा को प्रधानता नहीं दे सके। उनकी रक्षा यथासंभव स्वयं होती गयी क्योंकि परम्परा निर्वाह की प्रवृत्ति भी अपने में

पर्याप्त शक्ति रखती है। कलाकार अधिकतर पुरातन परिपाटी अथवा रीति का सचेष्ट अनुसरण करते रहे। परिपाटीबद्ध होने पर जहाँ कला की सृजन-शक्ति क्षीण होने लगती है वहाँ उसमें स्वरूप की स्थिरता तथा प्रेषण की सुगमता का लाभ भी होता है। वास्तव में कलागत प्रयोगशीलता और परम्परा के बीच एक स्वस्थ संतुलन अनिवार्य होता है जो कलाकार के व्यक्तिपक्ष और कलाविद् के सामाजिक पक्ष को परस्पर विच्छिन्न नहीं होने देता। प्राचीन और मध्यकालीन कला की उपलब्धियाँ इतनी महान् और आश्चर्यजनक शक्ति से सम्पन्न हैं कि वैचारिक जगत् में इतने बड़े परिवर्तन के बाद भी कला की दृष्टि से उनकी प्रतिष्ठा स्वयंसिद्ध है। कला की अपनी एक स्वतंत्र दृष्टि होती है जो मुख्यतया भावजगत् से सम्बन्ध रखती है, यह तथ्य आरम्भ में ही निर्दिष्ट कर दिया गया है। प्राचीन काल में वैचारिक धरातल पर व्यापक परिवर्तन हुए ही नहीं ऐसा कहना सत्य की उपेक्षा करना होगा परन्तु कला को उन्होंने किस प्रकार कितने अंश तक प्रभावित किया यह बात आज सर्वथा स्पष्ट नहीं है।

मान्यताओं के ऐसे परिवर्तन जिनका कला पर प्रत्यक्ष प्रभाव दिखायी देता है उन्नीसवी और बीसवीं शताब्दी में घटित हुए। इसका सर्वप्रधान केन्द्र योरोप रहा है। योरोप और भारत की कला-चेतना में इतना गंभीर अंतर रहा है कि सरलता से एक ही सूत्र से दोनों को बाँधा नहीं जा सकता; भारत की अपनी सुदृढ़ और विशाल कला परम्परा रही है। भारत के साथ चीन जापान आदि की भी गणना की जायेगी। क्यों कि इनकी भी प्राचीन कला-परम्परा अत्यन्त समृद्ध और शक्तिशाली है। योरोप में यूनान और रोम की कला अपने गरिमामय रूप में भी इन देशों की कला-कल्पना से तत्त्वतः भिन्न है। योरोपीय कला में यथार्थ रूपांकन का विशेष आग्रह रहा है जिसका चरम विकास अट्ठारहवीं शताब्दी के अंत तक घटित हो चुका और उन्नीसवीं तथा बीसवीं शती के सारे कला-आन्दोलन मुख्यतया उसकी प्रतिक्रिया में विकसित हुए हैं। इम्प्रेशनिज़म, फ़ॉविज़्म, क्यूबिज़्म, एक्सप्रेशनिज़्म तथा सुर्रियलिज़्म सबके सब रूप-आकार के वैज्ञानिक विश्लेषण तथा मनोविज्ञान के तथ्यों से प्रभावित होकर ऐसी रूप-रचना की खोज में व्यस्त रहे जो फोटोग्राफ़िक न हो। काव्य-शास्त्र की भाषा में कहा जाय तो वह जो अभिधामूलक न होकर लाक्षणिक और व्यंजक हो। अंग्रेज़ों के शासनकाल में योरोप के यथार्थ अंकन ने भारतीय कलाकारों पर गहरा प्रभाव डाला और उसकी उतनी ही तीव्र प्रतिक्रिया भी हुई। पुनरुत्थानवाद की एक लहर सी आई और चीनी, जापानी कला से निकटता स्थापित करते हुए, प्राचीन गौरव को पुनः

(१)

राजपूत-शैली

'राजपूत-शैली' कहने से मध्यकालीन भारतीय चित्रकला की एक विशिष्ट धारा का बोध होता है जिसका प्रसार १६वीं शती से लेकर १९वीं शती ईसवी तक माना जाता है। यहाँ 'शैली' शब्द का प्रयोग केवल 'स्टाइल' के लिए न होकर 'स्कूल' के लिए है और इस प्रकार 'राजपूत-शैली' पर्सी ब्राउन आदि अँग्रेज लेखकों द्वारा प्रयुक्त 'राजपूत-स्कूल' का सही पर्याय है। 'राजपूत-शैली' को आनन्द कुमारस्वामी ने प्रमुख स्थान देते हुए, राजस्थानी और पहाड़ी, दोनों शैलियों को उसका अंग बताया है परन्तु भारतीय चित्रकला के अन्य विशेषज्ञ राय कृष्णदास के मत से 'राजपूत-शैली' मानने की कोई गुंजाइश नहीं है। इस सम्बन्ध में उनकी दो मुख्य आपत्तियाँ हैं। एक तो यह कि इस शैली का प्रसारण केवल राजपूत जाति या राजपूताने तक ही सीमित नहीं था, वरन् "देशभर में इसके भिन्न-भिन्न केन्द्र" थे और उनकी परम्परा तथा परिस्थितियाँ भी भिन्न-भिन्न थीं। दूसरी आपत्ति उनकी यह है कि राजस्थानी और पहाड़ी शैलियों में तत्त्वतः इतना अन्तर है कि दोनों को एक साथ रखकर संयुक्त रूप से 'राजपूत-शैली' नाम नहीं दिया जा सकता। दोनों ही आपत्तियाँ आधारयुक्त हैं; परन्तु कोई नाम जब एक बार अर्थ-विशेष में रूढ़ हो जाता है तो प्रायः बिना उसके अर्थ के प्रति सजग हुए योंही स्वीकार किया जाने लगता है। ऐसी दशा में यह मन्तव्य कि..."राजपूत नामक एक व्यापक या प्रधान शैली की स्थापना नहीं टिक सकती" विचार की प्रेरणा देते हुए भी 'राजपूत-शैली' का पूरी तरह खंडन करने में समर्थ प्रतीत नहीं होता। जिन अंतरों के कारण यह निष्कर्ष निकाला गया है वे एक सामान्य दर्शक के लिए उतने महत्त्वपूर्ण सिद्ध नहीं होते जितनी कि समानताएँ। राजस्थानी और काँगड़ा शैली के चित्रों में निकटता का बोध अधिक होता है, दूरी का कम। जो विचक्षण विद्वान् हैं उनकी दृष्टि में थोड़ा-सा अन्तर भी पर्याप्त महत्त्व रखता है; कदाचित् इसीलिए राजपूत-शैली के स्थान पर कुछ

विशेषज्ञ राजस्थानी शैली कहना अधिक उपयुक्त एवं सार्थक समझने लगे हैं 'भारत की चित्रकला' पुस्तक में राजपूत-शैली के विषय में यही स्थिति है।

भारतीय चित्रकला के समग्र इतिहास पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि अजंता की भित्ति-चित्र-परम्परा बौद्ध धर्म के पर्यवसान के साथ-साथ १०वीं शती ईसवी तक प्रायः विलीन हो चुकी थी। उसके स्थान पर एक प्रकार की रूढ़िबद्ध शैली प्रचलित रही जिसे 'अपभ्रंश शैली' नाम से अभिहित किया गया है। इसका समय १५वीं शती तक माना गया है। उत्तर-पूर्वी भारत की 'पाल शैली' तथा पश्चिमोत्तरी भारत की 'जैन शैली' इसी के दो प्रमुख रूप कहे जा सकते हैं। राजपूत-शैली का उद्भव गुजरात के हस्तलिखित ग्रन्थों में पाये जा`वाले चित्रों की शैली से सम्बद्ध किया जाता है। पर्सी ब्राउन इस मत से पूर्णतया सहमत नहीं थे, परन्तु राय कृष्णदास राजपूत-शैली के एकचश्म चेहरे को गुजराती अपभ्रंश-शैली के सवाचश्म चेहरे का ही विकसित रूप मानते हैं। दोनों का तुलनात्मक अध्ययन करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राजस्थानी शैली अपभ्रंश-शैली का एक नवीन उत्थान है। उनके मत से राजस्थानी या राजपूत-शैली का जन्म गुजरात एवं मेवाड़ में 'कश्मीर शैली' के प्रभाव द्वारा १५वीं शती में हुआ। कश्मीर शैली उस पहाड़ी या काँगड़ा-शैली की पूर्वज है जो राजपूत-शैली से सम्बद्ध एवं उद्भूत मानी जाती है। कुछ लोगों ने राजपूत-शैली को 'मुग़ल शैली' से व्युत्पन्न बताने की भी चेष्टा की है परन्तु वातावरण, वेश-विन्यास आदि को देखते हुए यह प्रमाणित नहीं हो पाता है। दूसरी ओर अकबर द्वारा निर्मित करायी गयी, मुग़ल-शैली की हम्ज़ा-चित्रावली में ईरानी परम्परा के साथ-साथ कतिपय भारतीय तत्त्वों का भी निश्चित निर्देश किया जाने लगा है जिससे यह सिद्ध होता है कि राजपूत-शैली से पूर्व अवश्य ही कोई चित्र-शैली पश्चिमोत्तर भारत में प्रचलित थी जिसका प्रभाव राजपूत और मुग़ल दोनों चित्र शैलियों पर पड़ा। ऐतिहासिक दृष्टि से इन दोनों का उद्भव एवं विकासकाल प्रायः समान दिखायी देता है; दोनों ही एक-दूसरे के समानान्तर पल्लवित एवं पुष्पित होती रहीं। मुग़ल-शैली का सम्मान-क्षेत्र मुग़ल दरबारों तक ही सीमित रहा, परन्तु राजपूत-शैली व्यापक रूप से लोकप्रिय हुई। एक में विदेशी तत्त्व की प्रधानता थी दूसरी में देशी तत्त्व की। राजपूतों और मुग़लों के बीच उत्तरोत्तर विकसित होने वाले सम्बन्धों ने दोनों शैलियों के एक-दूसरे के निकट सम्पर्क में आने की सांस्कृतिक स्थिति उत्पन्न कर दी। जिस प्रकार मुग़ल-दरबार ने चित्रकला को प्रश्रय दिया, उसी प्रकार सभी हिन्दू-दरबार उसे प्रश्रय देने लगे।

राजाश्रय और लोकप्रियता दोनों का आधार पाकर राजपूत-शैली देश के विशाल भूभाग में प्रसार पाने लगी; यद्यपि उसके प्रमुख विकास-क्षेत्र राजस्थान और बुंदेलखंड ही कहे जा सकते हैं। यों वह पंजाब तक भी व्याप्त हो गई थी और कुमारस्वामी ने सिख-शैली नाम से उसका एक तीसरा प्रभेद भी माना है। और आश्रयदाता की रुचि, स्थान-विशेष की परम्परा और कलाकारों के वर्ग-विशेष की प्रवृत्ति के कारण इसकी अनेक उप-शैलियाँ भी विकसित हुईं जिन्हें स्थानीय नामों से अधिक जाना जाता है। मालवा, मेवाड़, उदयपुर, जयपुर, बीकानेर, किशनगढ़, कोटा-बूँदी तथा दतिया, ओरछा आदि की अपनी-अपनी उप-शैलियाँ लक्षित की गयी हैं जिनमें आलेखन, रूप-विन्यास तथा वर्णयोजना की निजी विशेषताएँ पायी जाती हैं। उदाहरणार्थ, कोटा-बूँदी क़लम के चित्रों में रंग अधिक चटक तथा वैविध्यपूर्ण मिलते हैं और किशनगढ़-शैली में आँख की आकृति एक तीखे घुमाव से युक्त मछली की तरह चित्रित की जाती है। जो पारखी नहीं हैं उनके लिए इन विशेषताओं को भी देख पाना कठिन ही होता है।

उप-शैलियों के ऐसे अन्तर राजपूत-शैली की निजी एवं व्यापक विशेषताओं का अतिक्रमण नहीं करते। वे एक धारा की विविध तरंगों की तरह ही भिन्नता में भी अभिन्नता की प्रतीति कराते हैं। राजपूत-शैली की ऐसी कौन सी विशेषताएँ हैं जो उसे अन्य भारतीय कला-शैली से स्पष्टतया पृथक् कर देती हैं, इस बात की चिंता इस विषय के विद्वानों ने यथेष्ट रीति से की है। सबसे पहले इसकी प्रसन्न इन्द्रधनुषी वर्ण-योजना तथा सीधी सरल रेखा-प्रधान अभिव्यक्ति-पद्धति ध्यान आकृष्ट करती है। टेम्परा शैली के अ-पारदर्शी एवं अमिश्र रंगों का प्रयोग इसमें सर्वत्र मिलता है। रेखांकन सशक्त, गतिशील, व्यंजक और आलंकारिक दिखायी देता है। वास्तव में अलंकरण-प्रियता राजपूत शैली की एक प्रमुख विशेषता है। जिसमें अलंकरण के अनेक परम्परागत अभिप्राय (motif) प्रयुक्त होते हैं। वृक्षों-लताओं तथा वस्त्रों-आभूषणों आदि में सर्वत्र यह अलंकृति व्याप्त मिलती है। विषय-वस्तु और वातावरण का पारस्परिक संतुलन तथा मुख्य आकृतियों के साथ-साथ पृष्ठभूमि की समान महत्ता को भी विशेषता के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। प्रतिकृति की यथेष्ट क्षमता रखते हुए भी राजपूत शैली के कलाकार यथार्थ अंकन से प्रायः उदासीन रहे हैं। बाह्य आकृति की अपेक्षा उनका ध्यान आन्तरिक भाव पर विशेष रहता है, जिसके अनुरूप वे परम्परा का अनुसरण करते हुए निजी ढंग से रूप-योजना करने के अभ्यस्त दिखायी देते हैं। उनका दृश्य-विधान परिपेक्ष्य (Perspective) के नियमों

से परिचालित न होकर स्वतन्त्र कला-प्रवृत्ति से नियोजित रहता है। फलतः उसमें एक विशिष्ट सौन्दर्य का समावेश हो जाता है। जल, पल्लव, पुष्प, बादल आदि के अंकन का उनका अपना एक स्वतन्त्र ढंग रहा है जो ज्यामितिक विन्यास से युक्त होने के कारण संभवतः उनकी अलंकरण-पद्धति से ही विकसित प्रतीत होता है।

विषयवस्तु की दृष्टि से राजपूत-कला की पहचान अधिक सरलता से की जा सकती है। कुछ ऐसे विषय हैं जो मुख्यतया इसी शैली के चित्रों में अंकित हुए हैं जैसे रागमाला, बारामासा, नायिकाभेद आदि। कृष्णलीला राजपूत-चित्रों की सबसे अधिक प्रचलित विषय-वस्तु रही है। उत्तर मध्यकाल में भारतीय धर्म-साधना के क्षेत्र में जो पुनरुत्थान हुआ, वह पौराणिक था। वैष्णव भक्ति-आन्दोलन तो भागवत-पुराण को केन्द्र में ही रख कर चला। परिणाम यह हुआ कि ब्रज से द्वारका तक पौराणिक कृष्णलीलाओं का गायन एवं चित्रण, प्रभूत मात्रा में शताब्दियों तक होता रहा। नायिकाभेद में भी अधिकतर कृष्ण की प्रेम-लीलाओं का ही समावेश मिलता है। राजपूत-शैली के चित्रकारों ने राधा-कृष्ण की शृंगारिक लीलाओं का काव्यानुरूप चित्रण करने में अद्भुत दक्षता प्रदर्शित की है। इसी का रसात्मक विकास काँगड़ा-शैली के चित्रों में मिलता है जो राजपूत-शैली की ही एक शाखा मानी गयी है। कश्मीर क्षेत्र के रम्य एवं सुषमामय पर्वतीय वातावरण में, संसारचंद-जैसे कलाप्रिय राजाओं के आश्रय में तथा मोलाराम-जैसे चित्रकारों की कुशल तूली का बल पाकर पहाड़ी शैली जिस रसात्मक उत्कर्ष तक पहुँची; उसकी समता संसार भर की चित्रकला से नहीं मिलती। कुमारस्वामी का यह कथन यथार्थ ही है कि राजपूत कला संसार की श्रेष्ठतम कला-परम्पराओं में स्थान पाने योग्य है।

जिस प्रकार इस शैली में नायिका-भेद तथा कृष्णलीला-विषयक चित्र केशव और बिहारी आदि के ग्रन्थों में अनुरूप काव्याश्रित होकर चित्रित हुए, उसी प्रकार रागमाला के चित्र संगीत के आश्रय में निर्मित होते रहे। इन चित्रों में विविध राग-रागिनियों का ध्यान रूपायित हुआ है। अमूर्त वस्तु को प्रत्यक्ष एवं मानवीकृत करके प्रस्तुत किया गया है। नायिकाभेद के प्रभाव से इसमें भी स्त्री-रूप के चित्रण में राजस्थानी कलाकारों ने आदर्श लक्षणों का अनुसरण किया है तथा काव्य के उपमानों के अनुरूप नख-शिख एवं अंग-आकृतियाँ चित्रित की हैं। पुरुष-चित्रण अधिकतर दरबारी वातावरण तथा आखेट आदि के दृश्यों में हुआ है जिसकी अपनी स्वतन्त्र पद्धति है। पशु-पक्षी, गार्हस्थिक जीवन तथा लोकरंजक

प्रतिष्ठित करने का यत्न किया गया। योरोप की आधुनिक कला का प्रभाव इधर इतनी तीव्रता से पड़ रहा है कि प्राचीनता की ओर लौट जाना न संभव रह गया है और न उचित ही; क्योंकि योरोपीय कला न केवल कुछ नये रूपों को साथ में लायी है वरन् वह कुछ नये मानव-मूल्यों का भी प्रतीक बन कर आयी है जिनसे भारतीय विचारधारा का पहली बार गंभीर संघर्ष आरम्भ हुआ है। समाज-शास्त्रीय चिंतन-प्रणाली, भौतिकवादी जीवन-दृष्टि, राजनैतिक अर्थ में व्यक्ति-स्वातंत्र्य तथा प्रजातंत्र की स्थापना कुछ ऐसे ही तथ्य हैं जिन्होंने विचारों को ही नहीं, अनुभूतियों को भी गहराई से प्रभावित किया है। जनता का इतना महत्त्व इससे पूर्व शायद ही कभी रहा हो। इसका परिणाम यह है कि लोक-कला तथा आदिवासियों की कला की शक्ति को भी परखा जाने लगा है तथा आधुनिक कलाकार उनसे प्रभावित होने में गौरव का अनुभव करने लगे हैं। विषय-वस्तु की सीमाएँ भी टूट गयी हैं और कला साधारण मानव के परिवेश से जुड़ गयी है। राज्य और धर्म के स्थान पर व्यक्ति-चेतना या समाज-चेतना उसकी नियामक हो गयी है। किन्तु इसी के साथ-साथ उसमें विज्ञान के प्रभाव से जो प्रयोगशीलता आयी है उसके कारण दुरूहता भी स्पष्ट लक्षित होती है, विशेषतः अमूर्त कला में। सौन्दर्य-शास्त्रियों के प्राचीन सिद्धान्तों की एकांगिता से मुक्त होकर आधुनिक कला अपने ही रचे बंधनों में स्वयं इतना उलझ गयी है कि बहुतों के लिए उसका आस्वादन एक समस्या बन जाता है। बहुतेरे संस्कारहीन लोग फैशन के वशीभूत होकर बिना समझे-बूझे उसकी प्रशंसा करते दिखायी देते हैं। जिन लोगों में कला के प्रेक्षण का सुसंस्कार है वे इसे स्वीकार करेंगे कि जटिलता और दुरूहता के दोष से मुक्त होकर भी आधुनिक कला शक्ति और सृजनशीलता में अत्यन्त समृद्ध है। नयी मान्यताओं ने उसे नयी संभावनाओं से इतना भर दिया है कि उलझन के रहते हुए भी निराशा का भाव उत्पन्न नहीं होता। यह अवश्य है कि जागरूक एवं अनुभूतिशील कलाकारों का दायित्व बढ़ गया है।

परिशिष्ट